

इकाई 1 भारतेन्दु हरिश्चंद्र का काव्य

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 भारतेन्दु का भक्तिपरक काव्य
- 1.3 श्रृंगारपरक काव्य
- 1.4 आधुनिक कविताएँ
 - 1.4.1 राजभक्ति
 - 1.4.2 देशभक्ति
 - 1.4.3 राष्ट्रीय चेतना
- 1.5 समाज सुधार और नवजागरण
- 1.6 साहित्य-क्षेत्र में भारतेन्दु के योगदान का महत्व
- 1.7 सारांश
- 1.8 प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस पाठ्यक्रम की यह पहली इकाई है, जो आधुनिक हिंदी कविता के प्रथम प्रतिनिधि कवि भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर केंद्रित है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- भारतेन्दु हरिश्चंद्र के काव्य से परिचित हो सकेंगे,
- उनके काव्य की विभिन्न विशेषताओं को जान सकेंगे,
- उनके काव्य में राष्ट्रीय जागरण की किस प्रकार अभिव्यक्ति हुई है, इसे रेखांकित कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

“आधुनिक हिंदी काव्य” पाठ्यक्रम के पहले खंड की यह पहली इकाई है जिसमें आप भारतेन्दु हरिश्चंद्र के काव्य का अध्ययन करेंगे। जैसा कि आप जानते हैं कि आधुनिक हिंदी कविता का प्रारंभ उन्नीसवीं सदी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। इसके कई कारण हैं। भारतेन्दु युग से पूर्व हिंदी की जिस कविता से हमारा परिचय होता है, उसे रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। वह अपने स्वरूप और संरचना दोनों दृष्टियों से रूढ़िबद्ध, श्रृंगारपरक और सामंत वर्ग का अनुरंजन करने वाला काव्य था। दरबारों में, राजाओं और मनसबदारों की चाटुकारिता में, स्तुति में, उन्हें प्रसन्न करने, हँसाने, चमत्कृत करने और उनकी रंगरलियों को और मधुर बनाने के लिए काव्य के परंपरागत लक्षणों के आधार पर कविता का सृजन होता रहा। समाज के व्यापक भावबोध से कटी हुई इस कविता का ऐतिहासिक महत्व तो है किंतु उसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक चिंताओं के ऐसे कोई संदर्भ नहीं हैं, जिनसे उस कविता का कोई महत्व स्थापित हो सके। हालाँकि इस दौर में भी भक्ति, वीर, नीति काव्य की रचनाएँ होती रहीं, लेकिन मुख्य धारा रीतिबद्ध कविता की ही रही। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक स्थिति भी कोई ऐसी नहीं रही, जिसमें कलाओं के उत्थान की गुंजाइश हो। यही वह समय भी है जब अंग्रेज़ मिशनरियाँ यहाँ आ कर अपने पाँव जमा रही थीं और ईस्ट इंडिया कम्पनी व्यापारिक मकसद लिए धीरे-धीरे अपना राज स्थापित कर रही थी। राजाओं और नवाबों को आपस में लड़वाकर तथा जनता को हर प्रकार से लूटकर वे भारत की धन-संपदा को यहाँ से ले जा रहे थे। देश को पूरी तरह असहाय और निर्धन बनाने की अंग्रेज़ों की साजिश के दबाव का ही विस्फोट सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम के रूप में सामने आता है। सुनियोजित न होने के कारण यह विद्रोह हालाँकि सफल नहीं हुआ लेकिन, इसमें सभी वर्गों, सम्प्रदायों, भाषा-भाषियों ने एक साथ भाग लिया था। इस के बाद देश की बागडोर ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश संसद के हाथ में आ गई, जिसकी प्रधान महारानी विक्टोरिया थी।

रीतिकालीन कविता के विपरीत इस आधुनिक युग में हिंदी कविता विषय, रूप, भाव, भाषा के स्तर पर पुरानी केंचुल उतार कर नया रूप धारण करने का प्रयास करती है। कविता दरबारों से निकल कर सीधे जनता के साथ संबंध स्थापित करती है। इन सब प्रयासों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र एक अग्रणी साहित्यिक

नेता की भूमिका निभाते हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने नाटक, निबंध, कविता आदि कई साहित्यिक विधाओं को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हुए और पत्रकारिता द्वारा साहित्य और समाज के संबंधों को नये ढंग से समझने-समझाने का प्रयास किया। एक कवि के रूप में उनका व्यक्तित्व कितना वैविध्यमय, बहुआयामी और विकसनशील रहा है, इसकी पड़ताल हम उनके काव्य के अध्ययन के माध्यम से करेंगे।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने लगभग 70 के करीब काव्यग्रंथों की रचना की है, जिनमें एक ओर अपनी परंपरा का सम्मान करते हुए सूरदास, घनानंद, बिहारी, की परंपरा के अनुपालन में भक्ति, प्रेम, सौन्दर्य, श्रृंगार आदि की रचनाएँ हैं तो दूसरी ओर नयी परंपरा का निर्माण करते हुए अपने समय और युग के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण वाली कविताएँ भी हैं। पारंपरिक कविताओं में भी परंपरा का अधानुकरण नहीं है अपितु उसे भी समयानुसार बदलने की प्रवृत्ति दिखायी देती है। भारतेन्दु के समय गद्य और पद्य की भाषा अलग-अलग थी। गद्य जहाँ खड़ी बोली में लिखा जाने लगा था वहाँ पद्य की भाषा अधिकांशतः ब्रज ही थी। भारतेन्दु की काव्यभाषा, काव्यरूप पर विस्तार से चर्चा हम इस खंड की अगली इकाई में करेंगे। आइये देखें कि भारतेन्दु का काव्य अपने समय और समाज का कैसे और किस रूप में साक्षात्कार कराता है।

1.2 भारतेन्दु का भक्तिपरक काव्य

भारतेन्दु की कविताओं का एक बड़ा अंश भक्तिपरक कविताओं का है। भारतेन्दु ने काव्य की जिस सुदृढ़ परंपरा को विरासत में हासिल किया, उसमें विशाल भक्ति काव्य शामिल है। भक्ति साहित्य की इस परंपरा के साथ ही लोकसाहित्य और संगीत की परंपरा से भी वे बखूबी परिचित थे। किंतु उनका तत्कालीन इतिहास इस बात का भी गवाह था कि रीतिकाव्य के रूप में साहित्य और समाज का रिश्ता दम तोड़ रहा था। सामंती परिवार, वैष्णव संस्कार और साहित्य-सृजन की पारिवारिक परंपरा का भी उन पर प्रभाव था। इसलिए अपने छोटे से जीवनकाल में उनकी काव्य-रचना का आरंभिक हिस्सा धार्मिक कविताओं के रूप में परंपरा पालन करते हुए सामने आता है। यद्यपि उनकी ऐसी कविताएँ भी राष्ट्रीय जागरण की मूल प्रवृत्ति से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित नज़र आती हैं।

भारतेन्दु की भक्तिपरक कविताओं को जब आप पढ़ेंगे तो पाएंगे कि उनकी कुछ कविताएँ तो ईश्वर का गुणगान करने, उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने, धर्म की दार्शनिक मान्यताओं को नकारने या पुष्ट करने वाली कविताएँ हैं, जैसे : भक्त सर्वस्व (1870 ई0) जिसमें राधा और कृष्ण के प्रति भक्तिभाव की व्यंजना करते हुए पुराणों के अनुसार उनके चरणचिह्नों का वर्णन है। वैशाख माहात्म्य (1872 ई0) जिसमें वैशाख महीने के स्नान की महिमा का वर्णन है, या देवी छद्म लीला (1873 ई0), प्रेम मालिका (1871 ई0), प्रातः स्मरण मंगल पाठ (1873 ई0), दैन्य प्रलाप (1873 ई0), रानी छद्म लीला (1874 ई0) आदि कविताओं में राधा-कृष्ण के प्रेम का, प्रेम के महत्व का, ईश्वर के प्रति निवेदन का, राधाकृष्ण के मिलन का वर्णन किया गया है। इनमें और ऐसी ही अन्य कविताओं में एक प्रकार से भक्ति आंदोलन की सगुणवादी परंपरा का ही अनुकरण दिखाई देता है। इन रचनाओं में भारतेन्दु पारिवारिक संस्कारों और अपने मत के अनुसार स्वयं को सगुण भक्ति के पक्ष में खड़ा करते हैं।

19वीं शताब्दी में बंगाल से सामाजिक, धार्मिक नवजागरण की जो लहर उठी उससे धार्मिक काव्य परंपरा के अनुपालन पर कई प्रश्न लग गये। धार्मिक-सामाजिक सुधारवादी आंदोलन धर्म की रुढ़िवादिता, अंधविश्वास, धर्म द्वारा निर्देशित या प्रेरित सामाजिक कुरीतियों का जोरदार खण्डन करके समाज सुधार पर बल देने का कार्य कर रहा था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर भी इनका काफी गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी अनेक यात्राओं में, बंगाल के इन समाजसुधारक नेताओं में से काफी के साथ भारतेन्दु का व्यक्तिगत परिचय, दोस्ती और सम्पर्क भी रहा और अपनी मान्यताओं का विरोध करने वाली मान्यताओं के खिलाफ भी उन्होंने जोरदार कविताएँ लिखीं। कुछ मान्यताओं को उन्होंने तर्क की कसौटी पर परखकर बदला भी। जैसे सगुणभक्ति के समर्थक होते हुए अद्वैतवाद का दर्शन भारतेन्दु के गले से नीचे नहीं उतर पाया :

"अहं ब्रह्म सब मूरख भाखैं, ज्ञान गरूर बढ़ाए।
तनिक चोट के लगत उठत हैं, रोइ-रोइ करि हाय॥
जो तुम ब्रह्म चोट केहि लागी, रोइ तजौ क्यों प्रान।
"हरिचंद्र" हांसी नाहीं है करनो ज्ञान-विधान॥

जो पै सबै ब्रह्म ही होय।
तो तुम जोरु जननी मानौ एक भाव सों दोय॥
ब्रह्म ब्रह्म कहि काज न सरनो वृथा मरौ क्यों रोय।
“हरीचंद” इन बातन सों नहिं ब्रह्महिं पैहो कोय॥

इसी प्रकार अद्वैतवादियों की इस मान्यता का भी वे खण्डन करते हैं कि जगत माया है, मिथ्या है :

जहाँ अगर झूठा है तो फिर मतवालों को क्या है काम।
फिर मजहब में भला क्यों करता है हर शख्स कलाम॥
बेद वगैरह भी तो जहाँ में हैं फिर क्या है इनसे काम।
इनके सिवा भी कहोगे जो कुछ सब झूठ है मुदाम॥
खुद झूठा जो होगा उसका कहना भी सब है झूठा।

स्वामी दयानंद एवं उनके आर्य समाज द्वारा मूर्तिपूजा, ईश्वर के सगुण रूप का विरोध उन्हें नहीं जँचता था किंतु उनके सामाजिक सुधारों का वे समर्थन करते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म समाज की धार्मिक मान्यताओं (मूर्तिपूजा का विरोध) के यदि वे विरोधी थे तो उनकी सामाजिक सुधार की मान्यताओं (ईश्वर जीव की भिन्नता, बलिप्रथा का विरोध, वेदों को अप्रामाणिक मानना/ईश्वरजन्य नहीं मानना) के पक्षधर भी थे। ब्रह्मसमाज के सामाजिक आंदोलन के भी वे पक्षधर थे। विधवा विवाह, विदेश गमन, अन्तर्जातीय विवाह आदि को इन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान की थी।

इनके अलावा भारतेंदु की विभिन्न धर्मों के बारे में लिखी हुई कविताएँ हैं, जो जैन, सिक्ख, इस्लाम आदि धर्मों के महत्व को स्वीकार करती हैं।

कुल मिलाकर देखें तो भारतेंदु इन कविताओं में देश और समाज की सम्पूर्ण उन्नति के लिए चिंतित और प्रयत्नशील दिखाई देते हैं।

कहा जाता है कि एक बार वे जैन मंदिर में चले गये तो समाज ने उन्हें नास्तिक कशर दिया। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप यह रचना लिखी गई :

बात कोउ मूरख की यह मानो।
हाथी मारै तोहू नाहीं, जिन मंदिर में जानो॥
जग में तेरे बिना और है दूजो कौन ठिकानो।

इसी प्रकार गुरुनानक के बारे में उन्होंने कहा :

बाबा नानक हरि-नाम दै पंचनदहिं उद्धार किया।
जग ऊंच नीच जन करि कृपा एक भाव अपनाइ लिए।

“कुरान” का उन्होंने हिंदी में अनुवाद भी किया और मुसलमानों के प्रति उन्होंने कहा :

पिरजादी बीबी रास्ती पद-रज नित सिर धारियै
इन मुसलमान हरि-जनन पै कोटिन हिंदु वारियै।

सभी धार्मिक मत मतान्तरों को आलोचनात्मक दृष्टि से परखने के बाद वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि सभी धर्मों की मूल दृष्टि एक ही है। मत मतान्तरों पर झगड़ने से कोई लाभ नहीं और सभी को अपने-अपने मतों को मानते हुए दूसरे धर्मों का आदर करना चाहिए :

खंडन जग में काको कीजै।
सब मत अपने ही तो हैं इन को कहा उत्तर दीजै

इसलिए उन्होंने एक ऐसे मार्ग की कल्पना की, जिसमें आडम्बर रहित ईश्वर भक्ति का मार्ग सभी के लिए सुलभ हो सके :

पियारौ पै यै केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान में नाहिं ध्यान में, नाहिं करम कुल नेम में।

नाहिं भारत में नाहिं रामायन में नाहिं मनु में, नाहिं वेद में।
नाहिं झगरे में, नाहिं युक्ति में, नाहिं मतन के भेद में।
नाहिं मंदिर में नाहिं पूजा में नाहिं घंटा की घोर में।
“हरीचंद” वह बंध्यौ डोलत एक प्रीति के डोर में।

इस प्रकार आप देखेंगे कि भारतेंदु की धार्मिक कविताएँ धार्मिक काव्य की परम्परा को धार्मिक समन्वयवाद या धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की ओर विकसित करने का प्रयास करती हैं।

1.3 शृंगारपरक काव्य

परंपरा का अनुपालन करते हुए भारतेंदु ने प्रकृति सौंदर्य, प्रेम सौंदर्य एवं शृंगारिक रचनाएँ भी लिखी हैं। भक्ति के क्षेत्र में सूर और शृंगार के क्षेत्र में बिहारी उनके प्रिय कवि रहे हैं। बारहमासा, होली आदि पर भी भारतेंदु की कविताएँ हैं। लेकिन रीतिबद्ध कवियों की भाँति उनकी प्रेम, सौंदर्य एवं शृंगारपरक कविताएँ किन्हीं राजा, दरबार या मनसबदारों की चाकरी में नहीं लिखीं गयीं। उनकी ऐसी कविताओं की संख्या भी अधिक नहीं है। ‘प्रेम सरोवर’ (1873 ई०), प्रेमाश्रु-वर्षण (1873 ई०), देवी छद्मलीला (1873 ई०), वसंत होली (1874 ई०) तथा प्रेम तरंग (1877 ई०) आदि उनकी ये रचनाएँ ही इस श्रेणी में आती हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी कविताओं में भारतेंदु हाथ-आजमाइश ज़रूर करते हैं किंतु उनकी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति यहाँ भी सक्रिय दिखती है। व्यक्तिगत जीवन में प्रेम के अतुल अनुभव ऐसी कविताओं की प्रेरणा रहे हों, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। रीतिकालीन कविता की परम्परा से विचलन के संकेत ऐसी कविताओं में भी लक्षित किये जा सकते हैं। लेकिन मुख्य बात यही है कि भारतेंदु इन कविताओं में भी पूरे स्वच्छंद, मस्त एवं लोकमन, लोकजन से नाता जोड़ने के प्रयास में रत दिखाई पड़ते हैं।

रीतिमुक्त कवि घनानंद के कठिन प्रेम मार्ग (यह प्रेम को पंथ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनौ है) की तरह भारतेंदु का ‘प्रेमसरोवर’ भी बहुत गहरा है। इस रचना में प्रेममार्ग की कठिनाईयाँ, प्रेम की परिभाषा और जीवन में उसके सार का भारतेंदु स्वच्छंद ढंग से निरूपण करते हैं :

प्रेम-सरोवर की यह तीरथ बिधि परमान।
लोक वेद को प्रथम ही देहु तिलांजलि दान॥
अति सूछम कोमल अतिहि अति पतरो अति दूर।
प्रेम कठिन सब सें सदा नित इक रस भरपूर॥

(भारतेंदु समग्र, पृ० 30)

इसी प्रकार पावस ऋतु के जीवंत चित्रण की पृष्ठभूमि में भारतेंदु राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का, उनके विरह-मिलन का चित्रण करते हैं। ऐसा चित्रण रीतिकाल में खूब मिलता है। इस दृष्टि से इसमें कोई नवीनता चाहे न हो किंतु ऐसे चित्रण में भी भारतेंदु की संवेदनशीलता छिपी नहीं रहती। चाहे पावस ऋतु के विभिन्न चित्रण हो या राधा की स्मृति में कृष्ण से मिलन का चित्रण हो या विरह का :

बात बिनु करत पिया बदनाम
कौन हेतु वह लाज हरै मम बिना बात बे-काम।
आजु गई हौं प्रात जमुन-तट आयौ तहँ घन स्याम।
पकरि मोहि जल बीच हलोरयो तोरयो कर को दाम।
लरि कंकन को दियौ खरौटा मेरे मुख सुनु बाम।
‘हरिचंद’ जाते जामें सब छिपै न प्रीति मुदाम।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 32)

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेंदु परंपरा से कन्नी काट कर आगे बढ़ना नहीं चाहते बल्कि उसे अपनाकर उसमें से अच्छ-बुरा पहचान कर ही वह अपने समय से जुड़ना चाहते हैं। उनकी इन सभी रचनाओं को इसी संदर्भ में देखा-परखा जाना चाहिए। उनकी ‘प्रेम तरंग’ (1877 ई०) रचना इस प्रक्रिया का बेहतर उदाहरण है। इसमें ‘प्रणय-भावना’ की व्यंजना है किंतु एक ओर तो भारतेंदु राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, उर्दू आदि भाषाओं का खुलकर प्रयोग करते हैं, दूसरी ओर लोकसंगीत की दुनिया की विभिन्न राग-रागिनियों को आधार बनाकर प्रणय की अभिव्यंजना करते हैं। यह खुलापन, मुक्ति का यह एहसास, लोक को परम्परागत काव्य में मिलाना, विभिन्न भाषाओं के प्रयोग

इसी ओर इंगित करते हैं कि भारतेंदु अपने समय के दबावों को न केवल महसूस कर रहे थे बल्कि उसे किस तरह वाणी दी जाए, परंपरा को कैसे लोकजन, लोकमन से जोड़ा जाए, काव्य की कौन सी दिशा निर्धारित की जाए, इस ओर भी सचेत रूप से सक्रिय थे।

1.4 आधुनिक कविताएँ

1.4.1 राजभक्ति

आधुनिक कविताओं में भारतेंदु की उन सभी कविताओं को लिया जा सकता है जो उन्होंने ब्रिटिश शासनाध्यक्षों, ब्रिटिश राज और देशभक्ति के बारे में लिखी हैं। भारतेंदु ने प्रथम कविता महारानी विक्टोरिया के प्रति एलबर्ट की मृत्यु पर 1861 ई० में लिखकर उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है। इसी प्रकार महारानी के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑफ एडिनबरा के 1869 में भारत आगमन पर "श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र" लिखकर भारतेंदु अपना हर्ष प्रकट करते हैं :

जाके दरस-हित सदा नैना मरत पियास।
सो मुख-चंद बिलोकिहैं पूरी सब मन आस।
नैन बिछाए आपु हित आवहु या मग होय।
कमल-पाँवड़े ये किए अति कोमल पद जोए।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 189)

1870 में ड्यूक ऑफ एडिनबरा के बनारस आने पर और 1871 में प्रिंस ऑफ वेल्स के बीमार पड़ने पर, 1874 में प्रिंस के रूसी राजकुमारी के साथ विवाह होने पर तथा 1875 में भारत आने पर भारतेंदु ने उनके सम्मान में कविताएँ लिखी हैं :

"स्वागत स्वागत धन्य तुम भावी राजधिराज।
भई सनाथा भूमि यह परसि चरन तुम आज।
राजकुंअर आओ इते दरसाओ मुख चंद।
बरसाओ हम पर सुधा बाढ़यौ परम आनंद।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 216)

यही नहीं "प्रिंस ऑफ वेल्स" को भारत का दुःख जानने के लिए आया हुआ मानकर वह उनके सामने भारत की पीड़ा को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

भरे नेत्र अंसुअन जल-धारा।
लै उसास यह बचन उचारा।
क्यों आवत इत नृपति-कुमारा।
भारत में छाये अधियारा।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 219)

तिनको सब दुःख कुंअर छुड़ावो।
दासी की सब आस पुरावो।
ब्रिटिश-सिंह के बदन कराला।
लखि न सकत भयभीत भुआला।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 220)

भारतेंदु की ऐसी कविताओं के आधार पर उन पर ब्रिटिश राज के प्रति वफादार रहने का आरोप भी लगाया जाता रहा है। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। डॉ० शंभुनाथ सिंह प्रश्न करते हैं, "महात्मा गांधी ने व्यक्तिगत व्यवहार के स्तर पर अंग्रेजों से कभी बिगाड़ नहीं किया और उनका अनेक अवसरों पर सत्कार किया तो उन्नीसवीं शताब्दी के एक राजभक्त परिवार के सदस्य से यह आशा क्यों करनी चाहिए कि वह उपनिवेशवाद विरोधी वैचारिक संघर्ष में सभी अंग्रेजों को एक ही नज़र से देखेगा और उनसे मानवीय रिश्ते तोड़ लेगा।" (भारतेंदु और भारतीय नवजागरण, पृष्ठ 27) लेकिन मूल सवाल यह भी नहीं है। मूल सवाल यह है कि 1857 के राष्ट्रीय संग्राम के होने के बावजूद भारतेंदु महारानी विक्टोरिया के प्रति और ब्रिटिश लार्ड आदि के प्रति सहानुभूति, सम्मान प्रदर्शन क्यों करते रहे। इसका जबाब 1857 से पूर्व अंग्रेजी राज और 1857 के बाद के अंग्रेजी राज के फर्क को रेखांकित करने पर

मिल सकता है। 1857 से पूर्व अंग्रेजों की नीति भारत को सिर्फ लूटने खसोटने की रही थी। उनकी निगाह में सभी शोषण के पात्र थे। जमींदार, नवाब, किसान, स्त्री-पुरुष सभी समुदाय के लोगों में उनके लिए कोई भेदभाव नहीं था। लेकिन राष्ट्रीय संग्राम के बाद ब्रिटिश हुकूमत के आते ही अंग्रेजों की नीति में गहरा अंतर आ गया। 1858 के अपने घोषणापत्र में महारानी ने जो लम्बे चौड़े वायदे किए थे, उन्हें पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता था कि ब्रिटिश राज यहाँ लूट-खसोट के मकसद से पाँव जमा रहा है। घोषणापत्र में यह भी कहा गया था, "हमारी यह इच्छा है कि जहाँ तक संभव हो सके, बिना किसी जाति, धर्म विभेद के हमारी प्रजा नौकरी के उन पदों पर नियुक्त हो सके, जिनके पालन की योग्यता उनमें अपनी शिक्षा, योग्यता और ईमानदारी के कारण हो।" (आधुनिक भारतीय इतिहास एवं संस्कृति से उद्धृत, पृष्ठ 521) महारानी ने भारतीयों के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप न करने का भी आश्वासन दिया था।

संभवतः यही कारण है कि भारतेंदु महारानी विक्टोरिया के प्रति इतना सम्मान, प्रदर्शित करते हैं और भारत के कल्याण की उससे अपेक्षा करते हैं। इसमें भी कोई दो राय नहीं कि उस समय तक देश की राजनीतिक हालत ऐसी हो चुकी थी कि नवाबों, राजाओं, सामंतदारों की आलसी, शोषणपरक प्रवृत्तियों से प्रजा बेहाल थी। सामाजिक बुराइयों, धार्मिक अंधविश्वासों से समाज पतन की ओर अग्रसर था। ऐसे में ब्रिटिश हुकूमत के द्वारा ज्ञान-विज्ञान, नयी तकनीक, नये प्रशासन की तरकीबें और स्वच्छ प्रशासन के आश्वासन निश्चय ही मन को लुभाने वाले थे। भारतेंदु ने लार्ड लारेंस, (1864-1869), लार्ड मेयो (1869-1872ई०), लार्ड रिपन (1880-1884) के प्रति लेख, कविताएँ लिखकर जो अपनी श्रद्धांजलि प्रकट की है, वह अकारण नहीं थी। लार्ड लारेंस ने देश की आर्थिक उन्नति के लिए बहुत कुछ किया। किसानों के हितों की सुरक्षा के लिए 1868 में पंजाब टेनेन्सी एक्ट और अवध टेनेन्सी एक्ट पास करवाया, जिसे इतिहासकारों ने भी "लामकारी एवं परोपकारी विधान" माना है। यह बात दीगर है कि ब्रिटिश सत्ता के ये सभी सुधार अपने पैर जमाने की चालबाज तरकीबों का ही एक दिखावटी हिस्सा थे। लार्ड मेयो ने भी अपने अल्पशासनकाल में देशी राजाओं और प्रजा का आदर अर्जित करने के लिए अनेक कदम उठाए। सार्वजनिक जीवन से भ्रष्टाचार मिटाने की व्यवस्था भी मेयो ने की थी। लार्ड रिपन ने अपने शासनकाल के दौरान सुधार के जितने कार्य किए उन्हीं के कारण उन्हें इतनी प्रशंसा मिली। भारतेंदु ने "रिपनाष्टक" लिखकर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की :

जय-जय रिपन उदार जयति भारत-हितकारी
जयति सत्य-पथ-पथिक जयति जन-शोक-बिदारी
जय मुद्रा-स्वाधीन-करन सालम दुख-नाशन
भृत्य-वृत्ति-प्रद जय पीड़ित-जन दया-प्रकाशन
(भारतेंदु समग्र, पृ० 257)

भारतेंदु लार्ड रिपन और पूर्ववर्ती सभी लार्ड शासकों में अंतर करते हैं और बताते हैं कि क्यों रिपन सभी लार्डों से अधिक सम्मानीय, प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है :

जदपि बाहुबल क्लाइव जीत्यौ सगरो भारत।
जदपि और लाटनहू को जन नाम उचारत।
जदपि हेसटिंग्स आदि साथ धन लै गए भारी।
जदपि लिटन दरबार कियो सजि बड़ी तयारी।
पै हम हिंदुन के हीय की भक्ति न काहू संग गई।
सो केवल तुम्हरे संग रिपन छाया सी साथिन भई।
(भारतेंदु समग्र, पृ० 258)

ध्यान देने की बात है कि भारतेंदु अंधराजभक्त नहीं थे। लार्ड हेसटिंग्स, लार्ड लिटन के प्रति उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ इस बात की गवाह हैं। लार्ड हेसटिंग्स द्वारा धन लूट कर ले जाना, लार्ड लिटन के शासन के दौरान 50 लाख से भी अधिक लोगों की अकाल में मृत्यु होना तथा उसके कुशासन की अनेक त्रुटियों की भारतेंदु ने कटु आलोचना की है:

स्ट्रेची डिजरेली लिटन चितय नीति के जाल
फंसि भारत जरजर भयो काबुल युद्ध अकाल
सुजस मिलै अंगरेज कौ होय रूस की रोक
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै हम कौ केवल सोक।
(भारतेंदु समग्र, पृ० 251)

1.4.2 देशभक्ति

1858 से 1881 तक यानि कि लार्ड रिपन के शासन शुरू होने तक भारतेंदु की राजनीति समझ इस प्रकार की थी कि वे जनता के दुखों, पीड़ाओं, बदहाली आदि को कभी प्रिंस ऑव वेल्स के द्वारा, कभी लार्ड के द्वारा महारानी तक पहुँचाने का अनुनय विनय करते रहे और महारानी को जनता का हितरक्षक मानते रहे। डॉ० शिवकुमार मिश्र के शब्दों में, "जहाँ तक भारतेंदु की राष्ट्रभक्ति का सवाल है वह भी काफी अर्से तक ऐसी राष्ट्रभक्ति है, जिसमें देश-दशा के प्रति पीड़ा, देशवासियों की दुर्गति पर क्षोभ और अवसाद, देशोद्धार की वास्तविक चिंता, देश के रुढ़ि-जर्जर स्वरूप पर खेद और आक्रोश, अपनी परंपरा पर गर्व, अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को पाने की ललक तथा प्रगति के नये रास्तों पर देश को ले जाने की चिंता, पराधीनता तथा आर्थिक शोषण से उसकी मुक्ति की प्रबल आकांक्षा और उसके लिए किए गए प्रयास आदि तो हैं, परन्तु यह सब राजराजेश्वरी के संरक्षण में हो सकेगा इस बात का भोला विश्वास भी है।" (भारतेंदु और भारतीय नवजागरण, पृष्ठ 63)। बाद में उपनिवेशी साम्राज्यवाद की सुधारवादी नीति की कलई उनके सामने उतरती गई। वे इस बात को समझ गये कि साम्राज्यवाद सामंतवाद के साथ हाथ मिलाकर वही पुराना लूट खसोट का खेल खेल रहा है और जनता की वास्तविक तकलीफों को दूर करने का उसका इरादा पाकसाफ नहीं है। वे यह भी देख रहे थे कि अंग्रेजी सत्ता ने जनता और अपने बीच ऐसे लोगों की एक जमात को प्रश्रय देकर खरीद लिया है जो अंग्रेजी सत्ता के न्यायिक होने का बिगुल बजाती रहे और बदले में लूट का एक हिस्सा हासिल करती रहे। इसलिए 1881 में रचित उनकी कविता "विजय वल्लरी" और 1884 में रचित "विजयिनी विजय बैजयन्ती" में भारत के दुख कष्टों का तो खूब वर्णन है किंतु कहीं पर भी महारानी तक इन दुःखों को पहुँचाने का आह्वान नहीं है। "विजय वल्लरी" अफगान युद्ध समाप्त होने पर और "विजयिनी विजय बैजयन्ती" मिस्त्र विजय के बाद लिखी गई, लेकिन दोनों कविताओं का मूल लक्ष्य राजभक्ति प्रदर्शन नहीं, बल्कि राजभक्ति को औजार बनाकर अंग्रेजों के शोषण अत्याचार को उद्घाटित करना तथा वीरतापूर्ण भारतीय संघर्ष की ऐतिहासिक परम्परा को उजागर करते हुए "अण्डरग्राउण्ड" रूप से भारतवासियों को ललकारना है। ये वस्तुतः औपनिवेशिक सुधारवाद से मोहभंग की कविताएँ हैं।" (भारतेंदु और भारतीय नवजागरण, डॉ० शंभुनाथ, पृष्ठ 31) "विजय वल्लरी" में भारतेंदु ने अफगान युद्ध में भारतीय सैनिकों की वीरता पर हर्ष व्यक्त किया है, किंतु ऐसे युद्ध अंग्रेज क्यों लड़ते हैं, इससे किसे लाभ होता है, इसका भी स्पष्टीकरण वे देते हैं :

ये तो समुझत व्यर्थ सब यह रोटी उतपात।
भारत कोष बिनास कों, हिय अति ही अकुलात।
ईति भीति दुष्काल सों पीड़ित कर को सोग।
ताहू पै धन-नास की यह बिनु काज कुयोग।
स्ट्रेची डिजरेली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो काबुल युद्ध-अकाल।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 251)

भारतेंदु की यही बदली हुई समझ "नये जमाने की मुकरी" में दिखाई देती है, जिसकी रचना उन्होंने 1884 में की थी :

भीतर-भीतर सब रस चूसै।
हँसि-हँसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज
क्यों सखि सज्जन, नहीं अंगरेज।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 256)

उपनिवेशी सुधारवाद की पोल इस मुकरी में पूरी तरह खुल कर सामने आ जाती है। अंगरेज अब लड़ाई झगड़े से नहीं, हँसकर, चालबाजियाँ करके लूटने में लगे हैं।

1.4.3 राष्ट्रीय चेतना

इसी प्रकार "विजयिनी विजय बैजयन्ती" कविता को लिया जा सकता है जो लिखी तो मिस्त्र विजय के उपलक्ष्य में है किन्तु प्रकारान्तर से औपनिवेशिक अंग्रेजी राज की चालबाजियों, झूठे आश्वासनों को नंगा करती चलती है। मिस्त्र विजय का अभिनन्दन करते-करते अचानक भारत का ऐतिहासिक गौरव,

भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव की याद और भारत की वर्तमान दुर्दशा का वे वर्णन करने लगते हैं। वे अब कोई ऐसा मौका नहीं खोना चाहते, जिसमें भारत की वास्तविक स्थिति, उसके लिए जिम्मेवारी आदि प्रश्नों को सामने न लाएं। मित्र विजय का विजयोत्सव मनाने के लिए "बनारस इंस्टीट्यूट" की एक विशेष सभा 22 सितम्बर, 1882 को बनारस के टाउन हॉल में हुई थी, वहीं भरी सभा में भारतेन्दु ने एक कविता का पाठ किया था। इस कविता में भारतेन्दु ने अपनी समझ इस प्रकार व्यक्त की:

जो भारत जग में रह्यौ सब सों उत्तम देस।
ताही भारत में रह्यौ अब नहि सुख को लेस।"

अर्थात् अंग्रेज़ राज या ब्रिटिश राज में भारत की यह हालत हो गई है कि सुख का लेश मात्र भी नहीं बचा :

हाय।
सोय भारत भूमि भई सब भौंति दुखारी।
रह्यो न एकहु बीर सहस्रन कोस मंझारी।
होत सिंह को नाद जौन भारत-बन मांही।
ताँह अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं
जँह झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वरा।
तह अब रोवत सिवा चहुँ दिसि लखियत खँडहर।

(भारतेन्दु समग्र, पृ0 254)

इसी कविता में 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बारे में भारतेन्दु अपनी समझ का भी परिचय देते हैं। 1857 के संग्राम के बारे में भारतेन्दु ने इससे पहले कोई टिप्पणी नहीं की थी :

कठिन सिपाही द्रोह-अनल जा जल-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहूँ भारतवासी।

(भारतेन्दु समग्र पृ0 255)

सिपाही विद्रोह को भारतेन्दु गलत नहीं कठिन मानते हैं। इस बारे में डॉ0 शंभुनाथ टिप्पणी करते हैं: "इन पंक्तियों को, लगता है, भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने समय के औपनिवेशिक आतंकवाद को पूरी तरह जीकर लिखा है। उन्होंने सिपाही द्रोह को गलत नहीं कहा, बल्कि बतलाया कि यह कितना कठिन काम था। इसके प्रतिशोध में अंग्रेज़ी सेना ने देश के जन-बल का इतनी निर्ममता से नाश किया कि अब भय से भारतवासी कहीं सिर नहीं उठा सकते। भारतेन्दु कार्ल मार्क्स के समकालीन थे। 1857 के प्रति उनका नजरिया भी क्रांतिकारी था। मार्क्स ने इस विद्रोह को "राष्ट्रीय कहकर मर्यादा दी, भारतेन्दु ने कठिन कहकर दी।" (भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ0 24)

देश की तत्कालीन दुर्दशा का भी भारतेन्दु ने यथार्थ चित्रण किया है, साथ ही उसके कारणों का खुलासा भी वे करते चलते हैं। अतीत के वर्णन के साथ यह वे भी बताते चलते हैं कि उनका इतिहास कितना गौरवशाली था। "प्रबोधिनी" कविता में उन्होंने लिखा :

गयो राज धन तेज रोष बल ज्ञान नसाई।
बुद्धि, वीरता श्री उछाह सूरता बिलाई।
आलस कायरपनों निरुद्यमता अब छाई।
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई।
सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पशु समान सब अन्न खात पीअत गंगा-जल।
धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान हवै रहत अकिल हत रचि न सकल कल।
जीवत विदेश की वस्तु लै ता बिनु कछु नहिं करि सकत।

(भारतेन्दु समग्र, पृ0 211)

(देशवासियों ने राज-पाट, धन के साथ-साथ ज्ञान और शक्ति भी खो दी है। बुद्धि, वीरता, उत्साह, समृद्धि की सूरत दूर-दूर तक दिखाई नहीं पड़ती। आलस, कायरपन का ही साम्राज्य चहुँओर दिखाई पड़ता है। मूर्खता, दुश्मनी, आपसी फूट में देश डूबा हुआ है। देशवासी कोई कला नहीं सीखते, पशुओं की भाँति केवल उदरपूर्ति में लगे रहते हैं। सारा धन विदेश जा रहा है और

किसी को कोई चिंता नहीं है। विदेशी माल-इस्तेमाल किए बिना मानो इनका कोई काम ही नहीं हो सकता।)

भारतेंदु की नज़र में भारत की ऐसी दशा का सबसे बड़ा कारण आक्रमणकारी अंग्रेज़ हैं, दूसरा कारण जनता की रुढ़िवादिता, धर्मांधता और सामाजिक रुढ़ियां हैं, तीसरा कारण आलस्य, अपव्यय, झूठी शान-शौकत और चौथा कारण है उनकी कायर प्रवृत्ति। देशवासियों को ये कारण बताकर अपनी कविताओं में वे उन्हें फटकार भी लगाते हैं और सुधारने का आह्वान भी करते हैं। देश की उन्नति के लिए सब कुछ भूलकर, ऊँच-नीच, जाति छोड़कर एक होने की प्रेरणा भी देते हैं। भारत की तात्कालिक दुर्दशा का भी भारतेंदु ने खुलकर अपनी कविताओं में यथार्थ चित्रण किया है।

इस प्रकार यदि देखा जाए तो ब्रिटिश राज पर विश्वास से आरंभ करके भारतेंदु की राजनीतिक समझ औपनिवेशिक सुधारवाद, साम्राज्यवाद और सामंतवाद की चालाकियों को समझने में और उन्हें नंगा करने में सक्रिय हुई है। इसलिए भारतेंदु की कविताएँ यदि एक ओर राजभक्ति का भ्रम पैदा करती हैं तो दूसरे ही क्षण देश की दुर्दशा के कारणों का खुलासा करते हुए राष्ट्रीय एकता के लिए जनता को एकजुट होने का आह्वान भी करती हैं।

1.5 समाज सुधार और नवजागरण

पश्चिमी सभ्यता के साथ पहले सम्पर्क में आने के कारण पश्चिमी बंगाल में नए विचारों का प्रादुर्भाव भी पहले ही हो गया। मध्यकालीन भारतीय समाज की रुढ़िवादिता, संकीर्णता, अंधविश्वासी चेतना को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के आलोक में झकझोर कर जगाने का काम बंगाल में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रामकृष्णपरमहंस, स्वामी विवेकानन्द सरीखे विद्वानों ने अपने हाथ में लिया था। 1828 ई० में ही बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना हो चुकी थी। बाल-विवाह पर रोक, विधवा विवाह की अनुमति, नारी शिक्षा, अंधविश्वासों का नकार आदि सामाजिक क्रांति के स्वर वहाँ गूँजने लगे थे। भारतेंदु यात्रा के शौकीन थे। अपने छोटे से जीवन में उन्होंने देश के विभिन्न भागों की अनेकों यात्राएँ की थीं। बंगाल की यात्राओं का लाभ उन्हें वहाँ समाज सुधार की प्रगति देखकर मिला, जिसका खुले मन से स्वीकार कर हिंदी प्रदेश में वे यह ज्योति ले आए और खुलकर सामाजिक सुधारों का झंडा उठा लिया।

अपनी स्वतंत्र कविताओं के अलावा नाटकों के लिए लिखी गई कविताओं में भी समाज सुधार के उनके विचार अभिव्यक्त हुए हैं।

सामंती संस्कारों के चलते भारतेंदु स्वयं रसिक मिज़ाज के थे, उनकी दो प्रेमिकाएँ थीं किंतु नारी के प्रति उनके दृष्टिकोण में बंगाल के नवजागरण मूलक सुधार आंदोलनों का व्यापक प्रभाव था। वे नारी शिक्षा के हिमायती थे, वेश्यागमन के खिलाफ थे, नारी को पुरुष के बराबर मानने के पक्षधर थे। स्त्रीपयोगी पत्रिका "बालाबोधिनी" का प्रकाशन भी उन्होंने शुरू किया था, जिसके मुखपृष्ठ पर लिखा रहता था :

जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष यामैं कछु न विभक्ति॥

भारतेंदु ईश्वरचंद विद्यासागर के भी सम्पर्क में आए थे जिन्होंने विधवा विवाह के पक्ष में पौराणिक ग्रंथों से काफी सुबूत जुटाए थे। भारतेंदु स्वयं विधवा विवाह के समर्थक हो गये थे। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में बंगाली पात्र द्वारा उच्चरित यह श्लोक विद्यासागर से ही प्रेरित था :

नष्टे मृते प्रवजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंच स्वायत्सु नारीणां पतिरुयो विधीयते॥

(भारतेंदु समग्र, पृ० 311)

अर्थात् पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, लापता हो जाने, नपुंसक हो जाने और पतित हो जाने पर, इन पाँच प्रकार की विपत्तियों में पड़ी स्त्रियों के लिए दूसरे पति का विधान है।

"नये जमाने की मुकरी" में भी भारतेंदु विद्यासागर की प्रशंसा करते हैं:

सुंदर बानी कहि समुझावै।
बिधवागन सों नेह बढ़ावै।
दयानिधान परम गुन-आगर।
सखि सज्जन नहिं विद्यासागर।

(भारतेंदु समग्र, पृ० 256)

इसी प्रकार "भारत दुर्दशा" में एक पात्र द्वारा भारतेन्दु कहलवाते हैं कि धर्म ने समाज की दुर्दशा कैसे की :

रचि बहुविधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो॥
जन्मपत्र बिधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीतिबल नास कियो सब॥
करि कुलान के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो।
बिधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचारयो॥
रोकि बिलायतगमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार धटायो॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सो सब बिमुख किए हिंदू घबराई॥

(भारतेंदु समग्र, पृ० 462)

छुआछूत, बाल विवाह, जन्मपत्री देखकर विवाह करना, विदेश गमन पर रोक, मूर्तिपूजा आदि ढकोसले, अंधविश्वासों का भारतेंदु खुलकर विरोध करते हैं जिन्होंने समाज को रुढ़िवादी बनाकर पतन में धकेल दिया है।

समाज की रुढ़िवादिता का विरोध करते हुए भारतेंदु शिक्षा और अपनी भाषा के प्रति उदासीनता के लिए भी चिंता व्यक्त करते हैं। अंग्रेज़ी का मकसद अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा ऐसे लोगों की जमात खड़ी करना था जो प्रशासन में उन्हें सहयोग दे सकें। इस संदर्भ में मिशनरियों द्वारा स्थापित स्कूल, लार्ड बेंटिंज, मैटकाफ, राजाराममोहन राय इत्यादि के समर्थन के बाद 1835 में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी बना दिया गया और 1852 में बंगाल, बम्बई, कलकत्ता प्रेसीडेन्सियों में लगभग 10,000 विद्यार्थी अंग्रेज़ी की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। भारतेंदु नवजागरण की इस प्रवृत्ति के पक्षधर थे और चाहते थे कि लोग अंग्रेज़ी सीख कर विश्व के ज्ञान-विज्ञान से परिचित हों:

लखहु न अँगरेजन करी उन्नति भाषा माँहि।
सब विद्या के ग्रंथ अँगरेजिन माँह लखहिं॥

(भारतेंदु समग्र, पृ० 228)

अंग्रेज़ी के साथ वह निजभाषा उन्नति का भी जोर-शोर से पक्ष लेते हैं। "हिंदी की उन्नति पर व्याख्यायन" कविता की ये पंक्तियाँ आपने भी अवश्य पढ़ी सुनी होंगी :

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के भिटत न हिय को सूल॥

(भारतेंदु समग्र, पृ० 228)

अंग्रेज़ी पढ़ने के पक्षधर होते हुए भी वे इस बात को स्पष्ट करते हैं कि अंग्रेज़ी के साथ-साथ अपनी भाषाओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है :

अंग्रेज़ी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन॥

(भारतेंदु समग्र, पृ० 228)

इस कविता में भारतेंदु तरह-तरह के उदाहरण देकर समझाते हैं कि भाषाओं को सीखना देश के लिए, समाज के लिए, व्यक्ति के लिए, विश्व के ज्ञान-विज्ञान, तकनीक के

हासिल करने के लिए बहुत जरूरी है। यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान न हो तो :

भारतेंदु हरिश्चंद्र का काव्य

नहीं कुछ जानत तार में खबर कौन बिधि जात।
रेल चलत केहि भाँति सों कल है काको नाँव।
तोप चलावत किमि सबे जारि सकल जो गाँव
वस्त्र बनत केहि भाँति सों कागज़ केहि बिधि होत।
काहि कबाइद कहत हैं बांधत किमि जल-सोत॥
उतरत फोटोग्राफ किमि छिन में छया रूप।
होय मनुष्यहि क्यों भये हम गुलाम ये भूप॥

(भारतेंदु समग्र, पृ० 229)

1.6 साहित्य-क्षेत्र में भारतेंदु के योगदान का महत्व

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र मात्र एक कवि और कुशल गद्यकार ही नहीं थे, एक युग प्रवर्तक साहित्यकार भी थे। इनके इर्द-गिर्द कवियों और लेखकों का एक बहुत बड़ा समुदाय एकत्र हो गया था, जिसे 'भारतेन्दु मंडल' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाकृष्ण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, लाला श्रीनिवास दास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेंदु के साथ ही इनके मण्डल के अधिकांश लेखकों की अपनी पत्रिकाएँ थीं। इन सबके माध्यम से भारतेंदु ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के साथ ही नवजागरण और समाजसुधार का एक व्यापक अभियान चलाया था। पत्र-पत्रिकाओं में उठाए जाने वाले मुद्दों, इनमें आयोजित बहसों के माध्यम से जनजागरण की भावना का प्रचार-प्रसार होता था। धार्मिक अंध-विश्वास, सामाजिक रूढ़िवादिता, छुआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना के विरोध और पारस्परिक मेल-मिलाप, समानता और स्वतंत्रता की भावना के महत्व को भारतेंदु और उनके मण्डल के लेखक पूरे तालमेल के साथ अपने लेखन और अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से प्रचारित-प्रसारित करते थे।

भारतेन्दु की सामाजिक प्रतिबद्धता इतनी गहरी थी कि वे अपनी पत्रिकाओं में विभिन्न स्थानों की बोली में कविता के तमाम सारे ऐसे विषयों की सूची प्रकाशित करते थे जिन पर स्थानीय लोग कविताएँ लिखकर लोगों में वितरित करें। इस प्रकार की रचनाएँ वे स्वयं छापते थे। इनके विषय होते थे - नारी शिक्षा का महत्व, बच्चों का सुचारु रूप से पालन-पोषण, अंधविश्वास और रूढ़ियों के दोष का वर्णन आदि। अपने इन कार्यों के माध्यम से भारतेंदु ने जनहित में एक व्यापक आन्दोलन का सूत्रपात किया था। अपनी कविताओं के साथ ही उन्होंने अपने नाटकों में पहेली-मुकरी, कजली, विरहा, चांचर, चैता, खेमटा, विदेशिया आदि लोकगीतों की शैली का प्रयोग कर जनजागरण का एक व्यापक अभियान छेड़ा था। ये सारे कार्य उनके साहित्यिक योगदान के साथ ही सामाजिक विकास में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित करते हैं।

1.7 सारांश

संक्षेप में अब यदि हम आकलन करें तो देखते हैं कि भारतेंदु एक कवि के रूप में एक ओर तो अपनी परंपरा से जुड़ने का प्रयास करते हैं तो दूसरी ओर काव्य को जनता के साथ भी जोड़ना चाहते हैं। यह काम शिल्प के स्तर पर वे लोकराग, लोकसंगीत, लोकछंदों को अपना कर करते हैं तो विषय-वस्तु के स्तर पर समाज और जनजीवन के तमाम दुख दर्दों को अपनी कविता का विषय बनाकर। राष्ट्रीय नवजागरण के जितने भी आयाम हो सकते हैं - राष्ट्रभक्ति, देशप्रेम, समाजसुधार - वे सब भारतेंदु की कविता का विषय बनते हैं। अपने काव्य विकास के दौर में वे अंग्रेज़ी राज की साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी मानसिकता को भी समझते हैं और खुलकर उसके विरोध में भी खड़े होते हैं। विशेष कर "भारत दुर्दशा" में आई उनकी कविताएँ और "हिंदी भाषा" पर उनका काव्य-व्याख्यान इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। हालाँकि आरंभ में वे ब्रजभाषा की मधुरता, सहजता और काव्य का पारंपरिक माध्यम होने के कारण यह सोच पाने में भी कठिनाई अनुभव करते रहे कि काव्य की भाषा खड़ी बोली भी हो सकती है किंतु अन्य भारतीय भाषाओं में उर्दू, गुजराती, पंजाबी, बंगाली, अंग्रेज़ी में भी कविताएँ लिख कर वे अपने देश प्रेम, भाषाओं के प्रति राष्ट्रीय दृष्टि का भी परिचय देते चलते हैं।

कुछ विद्वानों को भारतेन्दु की राजभक्ति की कविताओं को देखकर हमेशा उन्हें स्वीकार करने में परेशानी का अनुभव होता रहा किंतु विश्लेषण करने पर और ऐतिहासिक, सामयिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने पर, उनकी सार्थकता या स्वाभाविकता स्वतः जाहिर हो जाती है।

दरअसल पुनर्जागरण के ऐसे समय में जब देश, समाज एक ओर अपनी ही धर्मांधता, रुढ़िवादिता, साहित्य की समाजविमुख परंपरा से लड़ने के लिए तैयार हो रहा हो और दूसरी ओर साम्राज्यवादी, आक्रमणकारी शक्तियों से मुकाबला करने को भी तैयार होना चाहता हो तो किसी भी रचनाकार को गहरे आत्मसंघर्ष, अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ सकता है। उनके इन अन्तर्विरोधों, आत्मसंघर्ष को यदि सही परिप्रेक्ष्य में रखकर न देखा जाए तो निष्कर्ष गलत भी निकल सकते हैं। भारतेन्दु का साहित्य, विशेषकर उनका काव्य इन अन्तर्विरोधों को अपनी रचना-प्रक्रिया का अंग बनाकर सृजन के घरातल पर आता है। इसलिए उनके काव्य की मुख्य विशेषताओं को राष्ट्रीय नवजागरण की प्रवृत्तियों के रूप में ही देखा समझा जाना चाहिए।

1.8 प्रश्न

1. भारतेन्दु की भक्तिपरक कविताओं की मूलभूत विशेषताओं को स्पष्ट करें।
2. भारतेन्दु की राजभक्ति और देशभक्ति की कविताओं की तुलना करते हुए सिद्ध करें कि वे मूलतः देशभक्त थे न कि राजभक्त।
3. समाज सुधार की दृष्टि से भारतेन्दु की कविताओं के महत्व पर प्रकाश डालें।
4. 'भारतेन्दु की कविताओं में नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना का समुचित समावेश हुआ है' इस कथन की सोदाहरण व्याख्या करें।
5. एक कवि और समाज सुधारक के रूप में भारतेन्दु के महत्व पर प्रकाश डालें।

इकाई 2 मैथिलीशरण गुप्त का काव्य (राष्ट्रीय जागरण, नवजागरण और नारी चेतना के संदर्भ में)

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 गुप्त जी के काव्य के मूल स्वर
 - 2.2.1 राष्ट्रीय नवजागरण
 - 2.2.2 किसान जीवन
 - 2.2.3 नारी भावना
- 2.3 हिन्दी काव्य-जगत में गुप्तजी का योगदान
- 2.4 सारांश
- 2.5 प्रश्न

2.0 उद्देश्य

“नवजागरण मूलक” खंड की यह दूसरी इकाई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- मैथिलीशरण गुप्त के काव्य की प्रमुख विशेषताएँ जान सकेंगे,
- “राष्ट्रीय नवजागरण” में गुप्त जी के योगदान को रेखांकित कर सकेंगे,
- गुप्तजी की नारी भावना को समझ सकेंगे,

2.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने भारतेंदु हरिश्चंद्र के काव्य का अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में आप द्विवेदी युग के प्रमुख कवि मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964) के काव्य का अध्ययन करेंगे। द्विवेदी युग का नामकरण “सरस्वती” पत्रिका (1901 ई0) के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर हुआ है क्योंकि द्विवेदी जी अपने समय की प्रातिनिधिक साहित्यिक प्रवृत्तियों को पहचानने, परखने और उन्हें एक सही दिशा की ओर प्रवृत्त करवाने में “सरस्वती” पत्रिका के माध्यम से अग्रणीय भूमिका निभाते रहे हैं। पिछली इकाई में आपने पढ़ा था कि भारतेंदु हरिश्चंद्र और भारतेंदु मण्डल के कवि एक ओर तो साहित्य की रीतिवादी परम्परा से (भाव और अभिव्यंजना दोनों रूपों में) छुटकारा पाने की छटपटाहट से व्याकुल रहे हैं और दूसरी ओर बदलती राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों को साहित्य का वृहत्तर विषय बनाने की ओर भी अग्रसर रहे हैं। द्विवेदी युग तक आते-आते साहित्य और समाज का यह द्वंद्व तीव्रतर होता दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीय नवजागरण और राष्ट्रीय आंदोलन के आलोक में साहित्य नख-शिख वर्णन वाली रीतिवादी परम्परा से स्वयं को काफी हद तक मुक्त कर लेता है। यथार्थ की बदली हुई परिस्थितियों में भाषा, विषय और कहने का ढंग, इन तीनों में नये रूप और नये विषय की तलाश द्विवेदी युग की एक मुख्य विशेषता रही है। गद्य की भाषा तो 19वीं सदी में ही खड़ी बोली के रूप में अपने पाँव जमा चुकी थी अब पद्य की भाषा खड़ी बोली/बोलचाल की भाषा हो, इस का प्रयास द्विवेदी युग में होता दिखाई पड़ता है। साहित्य को जाँचने-परखने और सराहने की दृष्टि भी समय और समाज की ज़रूरतों की कसौटी पर कसी जाने लगती है।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में हुई थी और गुप्तजी का जन्म 1886 में। घर के वैष्णवी संस्कारों और निजी जीवन के अनुभवों के अलावा उनके काव्य-व्यक्तित्व को बनाने में तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन, समाज सुधार आंदोलन का भी मुख्य हाथ रहा है। गुप्त जी 1901 से स्वाधीनता प्राप्ति के बाद तक लिखते रहे। हिंदी में उर्दू, संस्कृत, बंगला से अनुवाद कार्य भी उन्होंने किया। उन की रचनाओं की सूची बहुत लम्बी है। आज़ादी के बाद तक वे लेखन में लगे रहे। प्रबंध काव्य, खण्ड काव्य, गीति काव्य, पद्य नाटक, रूपक कविताएँ इत्यादि काव्य रूपों में उन्होंने 50 से अधिक रचनाओं का सृजन किया। 1909 में उनकी प्रथम महत्वपूर्ण रचना “रंग में भंग” प्रकाशित हुई। अपनी रचनाओं के द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए गुप्त जी ने जन-जन में राष्ट्रीय चेतना भरने का वृहत्तर कार्य ही नहीं किया बल्कि समाज में व्याप्त बुराईयों को लक्ष्य बनाकर उन्हें दूर करने का स्वर भी बुलंद किया। भारतीय समाज की रीढ़ किसान जीवन भी उनकी चिंता का केंद्र बिंदु

बना है। गुप्तजी के काव्य में अभिव्यक्त राष्ट्रीय नवजागरण की इन्हीं मुख्य चिंताओं पर हम इस इकाई में विचार करेंगे।

2.2 गुप्तजी के काव्य के मूल स्वर

2.2.1 राष्ट्रीय नवजागरण

1903 या 1904 के आसपास मैथिलीशरण गुप्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में आए थे। इसके बाद ही वे काव्य की पारंपरिक ब्रजभाषा और रीतिवादी काव्य परंपरा से मुक्त हुए और साहित्य और समाज के नये रिश्तों की पहचान की उनकी यात्रा आरंभ हुई। इसमें 'सरस्वती' पत्रिका ने अपने जनतांत्रिक विचारधाराओं वाले निबंधों, आलेखों के द्वारा न केवल गुप्त जी का अपितु द्विवेदी युग के अन्य तमाम कवि लेखकों का भी मार्गदर्शन किया।

द्विवेदी जी के साथ गुप्त जी का संबंध गुरु शिष्य का था। गुप्त जी को काव्य संस्कार द्विवेदी जी से जितने प्राप्त हुए उतने किसी और से नहीं। द्विवेदी जी के कारण और आसपास के, जन जीवन के माहौल के कारण भी गुप्त जी एक सजग कवि के रूप में अपनी कविता को देश और जन जीवन के साथ जोड़कर विकसित करने के स्वप्न को पूरा करने की कोशिश करते हैं। शुरु की उनकी कविताएँ जो अधिकांशतः **सरस्वती** में ही प्रकाशित हुई एक प्रकार से उनके काव्य संस्कारों को पुख्ता करने में सहायक की भूमिका के रूप में दिखाई पड़ती हैं। ब्रज छोड़कर खड़ी बोली में आना, कविता को तराश-माँज कर पूरा करना, विभिन्न विषयों का चयन आदि ये सब बातें उन्होंने द्विवेदी जी एवं **सरस्वती** के सानिध्य में ही सीखीं। इन्हीं दिनों द्विवेदी जी **सरस्वती** में चित्रों के नीचे छापने के लिए एकाध पंक्तियाँ लिखने का भी गुप्त जी को आदेश देते, जिसे वे तुरंत पूरा कर देते थे। कभी-कभी एक चित्र पर पूरी कविता ही लिख डालते थे। **सरस्वती** में छपने वाले ये चित्र महाभारत के प्रसंगों पर (उत्तरा से अभिमन्यु की विदा, द्रोपदी दुकूल, कीचक की नीचता, कुंती और कर्ण, शकुन्तला को दुर्वासा का श्राप, रत्नावली आदि) अधिक होते थे। इनके साथ गुप्त जी द्वारा लिखित काव्यपंक्तियाँ छपी रहती थीं। इन्हीं प्रयासों में कहीं गुप्त जी को **जयद्रथ वध**, **भारत भारती** आदि लिखने की प्रेरणा मिली होगी। 1909 में उनका प्रथम काव्य **रंग में भंग** प्रकाशित हुआ जिसमें उनकी राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति मिलती है।

राष्ट्रीय चेतना की यह परम्परा गुप्त जी को भारतेन्दु युग से मिली। किंतु भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय चेतना और गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना में अंतर है, परिस्थितियों में भी अंतर हैं। गुप्त जी के समय में अंग्रेजों का चरित्र पूरी तरह खुल कर सामने आ गया था। उनसे सामना करने के लिए राजनीतिक स्तर पर कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। राजभक्ति का भारतेन्दु युग वाला द्वंद्व यहाँ नहीं था। इसलिए गुप्त जी की कविताओं में राष्ट्रीय नवजागरण के स्वर ज्यादा विकसित, ज्यादा उग्र एवं आक्रामक रूप से दिखाई पड़ते हैं। महाभारत के प्रसंगों वाले चित्रों पर कविता पंक्तियाँ लिखते हुए अपने अतीत, अपनी संस्कृति, अपना इतिहास और अपने गौरव का महाभाव उनकी रचनाओं का आधार बन जाता है। राष्ट्रीय नवजागरण के लिए वे अतीत की इसी मिथकीय दुनिया को संस्कारों से, सामूहिक, स्वप्नों से निकाल कर वर्तमान में प्रक्षेपित करते हैं। भारत भारती इस दृष्टि से उनकी बहुत लोकप्रिय एवं चर्चित रचना रही है। खण्ड काव्य के रूप में इस रचना की प्रेरणा चाहे उन्हें हाली के **मुसदस** से मिली किंतु सन् 1912 में प्रकाशित इस रचना में राष्ट्र के प्रति उनकी संवेदना बहुत मुखर होकर सामने आती है। भारत भारती में **अतीत**, **वर्तमान** एवं **भविष्य** तीन खंड हैं, जिनमें अतीत खण्ड में गुप्त जी ने बहुत विस्तार से भारत के अतीत का वर्णन कर देशवासियों को अपने स्वर्णिम इतिहास, जातीय पहचान का परिचय देकर उन्हें इज्जत और सम्मान से खड़े होने की प्रेरणा देने का कार्य किया है।

मुसदस और **भारत भारती** दोनों अपने वर्णित विषय में और उद्देश्य में समान हैं किंतु भिन्न देश-काल के कारण उनमें निहित दृष्टिकोण और भावना में कुछ मौलिक अंतर भी आ गया है। '**मुसदस**' **भारत भारती** से लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। इसकी भूमिका में हाली लिखते हैं जमाने का नया ठाठ देखकर पुरानी शायरी से दिल भर गया था और झूठे ढकोसले बाँधने से शर्म आने लगी थी।... कौम के एक सच्चे खैरखाह ने आकर मलामत (झिड़कना) की और गैरत (शर्म) दिलाई कि हैवानेनातिक (मुँह से बोल लेने वाला जीव) होने का दावा करना और खुदा की दी हुई जुबान से कुछ काम न लेना बड़े शर्म की बात है। "कौम का यह सच्चा खैरखाह" सर सैयद अहमद खाँ था जो 1857 की क्रांति की विफलता के बाद मुसलमानों में छापी निराशा, परती और अंग्रेज विरोधी माहौल में मुसलमानों में एक बहुत बड़े सांस्कृतिक आंदोलन की अगुवाई कर रहा था। सर सैयद से

प्रेरणा पाकर हाली ने अपनी कविता का पूरा स्वर बदला और जाति तथा देश के लिए मंगलकारी उद्देश्यपूर्ण रचनाएँ लिखनी शुरू कर दीं। मुसद्दस इसी कड़ी की एक रचना है जिसमें “अपने देश और अपनी जाति से ही नहीं, संसार की समस्त जातियों और देशों से उनका स्वाभाविक प्रेम झलकता है। उनकी उन्नति से ईर्ष्या का नहीं, स्पर्धा का भाव उनमें जोश मारता है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि अगर कोई ऐसा ऊँचा टीला हो कि वहाँ से सारी दुनिया नज़र आती हो, और फिर उस पर एक ज्ञानी चढ़े तो वह देखेगा:

वह देखेगा हरसू (हर तरफ) हज़ारों चमन वाँ
 बहुत ताज़ागर सूरते-बागे-रिज़वाँ (स्वर्ग के उद्यान के समान)
 बहुत उनसे कमतर, प' सरसब्जो-खन्दों (हरे-हरे हँसते हुए)
 बहुत, खुशक औ बेतरावत - मगर हाँ
 नहीं लाए गो बर्गो-बार (पत्ते और फल) उनके पौदे
 नज़र आते हैं होनहार उनके पौदे।

इस पूरे बंद के लहजे में संसार की विभिन्न जातियों से हाली का वही प्रेम टपकता है जो एक पुराने माली का अपने उद्यान से होता है।” (शमशेर की कुछ गद्य रचनाएँ, पृष्ठ 33)

बीसवीं सदी के प्रारंभ में **मुसद्दस** की कमी पूर्ति करते हुए **भारत भारती** की रचना हुई। जैसा कि इसकी भूमिका में गुप्त जी लिखते हैं : “यह बात मानी हुई है कि भारत की पूर्व और वर्तमान दशा में भारी अंतर है। अन्तर न कहकर इसे वैपरीत्य कहना चाहिए। एक वह समय था कि यह देश विद्या, कला-कौशल और सभ्यता में संसार का शिरोमणि था और एक यह समय है कि इन्हीं बातों का इसमें शोचनीय अभाव हो गया है। जो आर्य जाति कभी संसार को शिक्षा देती थी वही आज पद-पद पर पराया मुँह ताक रही है।... परंतु बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिए हिंदी में अभी तक इस ढंग की कोई कविता नहीं लिखी गयी जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति और अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिए प्रोत्साहन भी। इस अभाव की पूर्ति के लिए जहाँ तक मैं जानता हूँ, कोई यथोचित प्रयत्न नहीं किया गया। परंतु देशवत्सल सज्जनों को यह त्रुटि बहुत खटक रही है। ऐसे ही महानुभावों में कुरी सुदौली के अधिपति माननीय श्रीमान्, राजा रामपाल सिंह जी के.सी.आई.ई. महोदय हैं। कोई दो वर्ष पूर्व मैंने ‘पूर्वदर्शन’ नाम की एक तुकबन्दी लिखी थी। उस समय चित्त में आया था कि हो सका तो कभी इसे पल्लवित करने की चेष्टा भी करूँगा। इसके कुछ ही दिनों बाद उक्त राजा साहब का एक कृपा पत्र मुझे मिला जिसमें श्रीमान् ने मौलाना हाली के **मुसद्दस** को लक्ष्य करके एक कविता पुस्तक हिन्दुओं के लिए लिखने का मुझसे अनुग्रहपूर्वक अनुरोध किया।..”(भारत भारती, पृष्ठ 6) और इस अनुरोध को पूरा करते हुए गुप्त जी **भारत भारती** में अपने वैष्णवी संस्कारों, प्रगतिशील भावना और वर्णव्यवस्था के सामाजिक आदर्श की परिकल्पना ले कर उतरते हैं। वे हिंदू समाज में व्याप्त निराशा को दूर करने के लिए प्राचीन आदर्श व्यवस्था की पुनःस्थापना का स्वप्न देखते हैं।

इस प्रकार **मुसद्दस** में हाली का सारा ध्यान जहाँ वर्तमान पर है, वर्तमान को किस प्रकार ठीक किया जाए, अपनी जाति को देश की अन्य प्रगतिशील जातियों के समकक्ष कैसे लाया जाए - इस पर है, वही **भारत भारती** का कवि मूलतः सुधारवादी भावनाओं में रोमांटिक रूप से अतीतानुरागी बन कर सामने आता दिखाई पड़ता है। इसलिए वह चतुर्वर्ण व्यवस्था का समर्थन करता हुआ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से भी अपने धर्म का पालन करने का उपदेश देता है :

शूद्रों, उठो तुम भी भारतभूमि डूबी जा रही
 है योगियों का भी अगम जो व्रत तुम्हारा है वही
 जो मातृसेवक हो वही सुत श्रेष्ठ जाता है गिना
 कोई बड़ा बनता नहीं लघु और नम्र हुए बिना।

(पृ० 155)

एक तरह से गुप्त जी की **भारत भारती** की रचना के समय जो समझ बनी समाज की, देश की, समाज सुधार की, राष्ट्रीय चेतना की - वह समझ यही थी कि जातिमूलक सुधारों से देश का गौरव वापिस लाया जा सकता है, पहले से स्थापित समाज व्यवस्था के अनुरूप आदर्शों को अपनाकर सभी का भला हो सकता है।

इस प्रकार भारत भारती में गुप्त जी देश के अतीत का एक स्वर्णिम ढाँचा, एक व्यवस्था की जो परिकल्पना करते हैं, जातीय एकता की एक पहचान का जो वास्ता देते हैं, आर्य सभ्यता, आर्य जाति का जो गौरवशाली इतिहास बुनते हैं, उसे फुटनोट में दिये उदाहरणों से और पुष्ट करके मानों उस पर तथ्यों की मुहर भी लगाते चलते हैं।

नवजागरण के दौर में अतीत से निश्चय ही प्रेरणा ली जाती है, अपने वर्तमान के लिए गुप्त जी प्रेरणा तो लेते ही हैं किंतु अतीत को वर्तमान में प्रक्षेपित भी कर देते हैं। और मिलीजुली सांझी संस्कृति, परम्परा, विरासत जिसमें विभिन्न वर्णों, वर्गों, धर्मों के लोग रहते हैं, विभिन्न भाषा भाषी समुदाय रहते हैं - उनमें एकता स्थापित करना तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकता को गुप्त जी सभी के प्रति समभाव प्रदर्शित करके पूरा करने की कोशिश करते हैं। इसलिए भारत के अतीत का वर्णन करते समय मुसलमानों को जहाँ वह आक्रमणकारी मानते हैं, गोवध का विरोध करते हैं, औरंगजेब के शासनकाल की निंदा करते हैं वही राष्ट्रीय आंदोलन की जरूरत के मुताबिक काबा और कर्बला भी लिखते हैं और सिक्ख गुरुओं की भी प्रशंसा करते हैं।

इन सबके पीछे गुप्त जी की यह समझ काम करती दिखाई पड़ती है कि अतीत में हिंदुओं की एक जातीय पहचान थी, आर्य, जाति और एक धर्म था वैदिक धर्म जिसे शकादि, हूण, मुसलमानों ने आकर नष्ट करने की कोशिश की, फिर अंग्रेजों ने भी आक्रमणकारियों के रूप में आकर यही किया। हालाँकि इस समझ से अंग्रेजों को काफी लाभ हुआ। क्योंकि वे तो चाहते ही थे कि हिंदू, मुस्लिम दोनों कौमों, आपस में दुश्मन बन जाएँ। बावजूद इन सब बातों के यदि 'भारत भारती' इतनी लोकप्रिय हुई और आंदोलनकर्ता तक इसकी पंक्तियों को गुनगुनाते हुए आगे बढ़ते थे तो इसलिए कि इसमें अपने युग की कई ऐसी प्रवृत्तियों को प्रेरणा देने की शक्ति थी जिससे नवयुवकों में जोश और आत्मसम्मान की भावना भर जाती थी :

हे भाइयों, सोये बहुत, अब तो उठो, जागो, अहो।
देखो जहाँ अपनी दशा, आलस्य को त्यागो अहो।
कुछ पार है, क्या क्या समय के उलट फेर न हो चुके।
अब भी सजग होंगे न क्या ? सर्वस्व तो हो खो चुके।

(पृ० 145)

आओ, मिलें सब देश-बान्धव हार बन कर देश के,
साधक बनें सब प्रेम से सुख-शांतिमय उद्देश्य के।
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो।
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो ?

(पृ० 144)

ऐसी पंक्तियाँ पढ़कर किसके मन में देश प्रेम का ज्वार नहीं उठेगा !

गुप्त जी के बारे में हिंदी साहित्य का इतिहास में आचार्य शुक्ल लिखते हैं : “ गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्यप्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिंदी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निःसंदेह कहे जा सकते हैं।” (पृष्ठ 334) । कालानुसरण की क्षमता निश्चय ही गुप्त जी में थी। देश की वर्तमान स्थिति का बेबाक वर्णन उन्होंने भारत भारती के वर्तमान खंड में किया है। गरीबी और अमन, व्यापार, शिक्षा आदि समाज का कोई भी चित्र उनसे छिपा नहीं रहा। 1916 में जब गांधी जी भारतीय राजनीति में सक्रिय हुए तो वे गांधी जी से भी बहुत प्रभावित हुए। राष्ट्रीयता की नयी चेतना, सविनय अवज्ञा आंदोलन की भावना, गांधी के नैतिक राजनीतिक विचार, सत्य और अहिंसा, चर्खा और गांधी - गांधीवाद के ये सभी आदर्श गुप्त जी ने अपनाए। यहाँ तक कि छायावादी कविता के अनुसार प्रगीत भी उन्होंने लिखे किंतु सारी राष्ट्रीयता, सारा स्वदेश प्रेम अतीत मुखोपेक्षी जातीय मूलक सुधारवादी राष्ट्रीयता में ही रंगा रहा। भारत भारती से काव्य भावना की जो आधारभूमि कवि की बनी, आने वाली सभी रचनाओं की दिशा यहीं से तय हो गयी। इस आधारभूमि पर साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज आदि बहुत सी कृतियाँ आयीं, सफलता, लोकप्रियता और चर्चा का विषय भी बनीं किंतु सारे नये अनुभव, अन्ततोगत्वा काव्य संस्कार की उसी भावभूमि पर निर्मित हुए जिसकी अभी हमने चर्चा की।

2.2.2 किसान जीवन

किसान जीवन के यथार्थ को अपवाद स्वरूप गुप्तजी ने बिना, अतीत का सहारा लिए ठोस सामाजिक भूमिका पर रखकर निर्मित किया है। कहा जा सकता है कि 'किसान' (1915) खण्ड काव्य/के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन में किसान और किसान के जीवन को वे एक मुख्य प्रश्न बनाकर चिंताओं के केन्द्र में लाये। हालाँकि इसकी प्रेरणा भी उन्हें 19वीं सदी में ही देश में किसानों की बदतर जीवन स्थिति से ही मिली होगी। जमींदारी प्रथा के चलते किसानों के जीवन की स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गई थी कि वे खेत मज़दूर बनकर भी रोजी-रोटी पूरी नहीं कर पाते थे। इसलिए रोजी-रोटी की तलाश में उन्हें घर छोड़कर बाहर निकलना पड़ा और अनेकों किसान शर्तबंद कुली बनाकर भारत से बाहर फीजी, मारिशस, ट्रिनीडाड आदि द्वीपों पर भेजे जाने लगे। इस पर देश में राजनीतिक स्तर पर भी प्रतिक्रिया हुई। दक्षिण अफ्रीका में भारतीय मजदूरों पर होने वाले अत्याचारों का गांधी जी ने विरोध किया। 1914 में तातेराम सनाद्य के फीजी संस्मरणों को श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने **फीजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष** शीर्षक से लिखा। यह पुस्तक बहुत चर्चित हुई और अंग्रेज़ी सरकार से यह माँग की जाने लगी कि वह भारतीय किसान मजदूरों को विदेश भेजना बंद करे और भेजे गये मजदूरों को वापिस बुलाया जाए। इसी अवसर पर गुप्त जी ने **किसान** खण्डकाव्य लिखा। इसकी प्रेरणा गुप्त जी को द्विवेदी जी के किसानों की हालत का बयान करने वाले निबंधों से मिली होगी लेकिन देश की वस्तुस्थिति किसी से भी छिपी नहीं थी। भारतीय जीवन की आधारभूत आर्थिक नींव खेती ही रही है। अंग्रेज़ी सत्ता के शोषण के चक्र में सबसे अधिक नुकसान सामान्य किसानों का ही हुआ। अंग्रेज़, मनसबदार, बड़े-बड़े जमींदार, नवाब, रैयतदार इन सब के शोषण का शिकार वह किसान ही बना जो अपनी मेहनत से जमीन जोत कर दो जून की रोटी का इंतज़ाम करता था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने **"संपत्तिशास्त्र"** नामक एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। इसी पुस्तक में किसानों की जीवन का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा: "खेतिहरों का व्यवसाय या पेशा खेती करना है और खेती खेतों में होती है। (हिन्दी) प्रांतों में जितनी ज़मीन खेती करने लायक है, कुछ को छोड़कर बाकी सभी के मालिक जमींदार, ताल्लुकेदार, नंबरदार और राजा रईस बन बैठे हैं। वे काश्तकारों से खूब लगान लेते हैं, उसे समय-समय पर बढ़ाते भी हैं और कारण उपस्थित हो जाने पर उन्हें खेतों से बेदखल भी कर देते हैं। इस संबंध में जो कानून बने हैं वे काश्तकारों के सुभीते के कम और जमींदारों के सुभीते के अधिक हैं जब पैदावार बहुत कम हो जाती है और लगान बेबाक नहीं होता तब कर्ज़ लेना पड़ता है। कम से कम कर्ज़ की मात्रा बढ़ती जाती है और एक दिन घर द्वार, बैल बछिया सब नीलाम हो जाते हैं। खेती ही प्रधान व्यवसाय ठहरा।" इसी प्रकार उन्हीं दिनों **"सरस्वती"** में किसान जीवन पर अन्य लेखकों के भी सारगर्भित लेख, निबंध छपते रहते थे। गुप्त जी की नज़रों से भी किसानों की जीवन अछूता नहीं था। वे भी यह जानते थे कि किसानों की ऐसी हालत का कारण अंग्रेज़ी सरकार की यहाँ से अन्न विदेशों में ले जाने की नीति ही थी। **"भारत-भारती"** में इसका वर्णन वे यून करते हैं :

"अब पूर्व की-सी अन्न की होती नहीं उत्पत्ति है
पर क्या इसी से अब हमारी घट रही संपत्ति है?
यदि अन्य देशों को यहाँ से अन्न जाना बंद हो,
तो देश फिर से सम्पन्न हो, क्रंदन रुके, आनंद हो।

(पृ० 86)

अंग्रेज़ों के साथ-साथ गुप्त जी प्रकृति और मौसम को भी किसानों की ऐसी बदहाली के लिए जिम्मेवार ठहराते हैं :

हेमंत में बहुधा घनों से पूर्ण रहता व्योम है,
पावस निशाओं में तथा हँसता शरद का सोम है
हो जाय अच्छी भी फसल पर लाभ कृषकों को कहाँ?
खाते सवाई, बीज ऋण से हैं रंगे रक्खे कहाँ?
आता महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अंत में
अधपेट खाकर फिर उन्हें है काँपना हेमन्त में।

(पृ० 88)

लेकिन भारतीय किसान विपरीत परिस्थितियों में भी कभी हार नहीं मानता और पूरी कर्मठता से श्रम में लीन रहता है। इसका चित्रण करना भी गुप्त जी नहीं भूलते :

बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा-सा जल रहा,
है चल रहा सन-सन पवन, तन से पसीना बह रहा,
देखो कृषक शोषित सुखाकर हल तथापि चला रहे,

किस लोभ से इस अर्घि में वे निजशरीर जला रहे।
मध्यातन है उनकी स्त्रियाँ ले रोटियाँ पहुँची वहीं,
हैं रोटियाँ रूखी, खबर है शाक की उनको नहीं।
संतोष से खाकर उन्हें वे, काम में फिर लग गयीं,
भरपेट भोजन पा गये तो भाग्य मानो जग गये।

(पृ० 89)

"भारत-भारती" के अलावा किसानों के जीवन पर केंद्रित "किसान" खण्डकाव्य गुप्त जी की ऐसी रचना है जो इतिहास, पुराण का सहारा नहीं लेती बल्कि सीधे-सीधे किसानों के सामाजिक यथार्थ को हूबहू हमारे सामने प्रस्तुत करती है। इसमें विस्तार से गुप्त जी ने किसान जीवन की दुर्दशा को संवेदनात्मक रूप से अभिव्यक्त किया है। इस खण्डकाव्य को कवि ने आठ सर्गों में बाँटा है, जिसमें आत्मचरितात्मक रूप में किसान जीवन की कथा "प्रार्थना" से शुरू होकर "बाल्य और विवाह", "गार्हस्थ", "सर्वस्वान्त", "देश त्याग", "फिजी", "प्रत्यावर्तन" और "अंत" शीर्षकों में पूरी होती है। "प्रार्थना" सर्ग में प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में भारतीय किसान की दुर्दशा का चित्रण है :

कृषि ही थी तो विभो। बैल ही हम को करते,
करके दिनभर काम शाम को चारा चरते।
कुत्ते भी हैं किसी भाँति दग्धोदर भरते,
करके अन्नोत्पन्न हमीं हैं भूखों मरते।

.....

(पृ० 10)

प्रभुवर। हम क्या कहें कि कैसे दिन भरते हैं?
अपराधी की भाँति सदा सबसे डरते हैं।
याद यहाँ पर हमें नहीं यम भी करते हैं
फिजी आदि में अन्त समय जाकर मरते हैं।

(पृ० 13)

(1850 के लगभग फिजी, ट्रिनीडाड और मारिशस आदि द्वीपों पर खेतों में काम करने के लिए अंग्रेज भारतीय मजदूर किसानों को ले जाने लगे थे। कुछ रास्ते में ही मर जाते थे। वहाँ पर भी उन्हें दयनीय जीवन बिताना पड़ता था। वापिस आना संभव नहीं था। इन्हीं मजदूर किसानों की मेहनत के बल पर ये द्वीप आज फल फूल रहे हैं और इन्हीं की संतानें आज वहाँ रह भी रही हैं।)

इसी प्रकार "बाल्य और विवाह" में किसान के कैशोर्य जीवन का चित्रण है, "सर्वस्वान्त" में किसान के हृदय की चीत्कार सुनाई पड़ती है। फिजी में किसानों द्वारा देश छोड़ अनजाने द्वीपों पर पापी पेट की खातिर जाने की व्यथा का मार्मिक वर्णन है। कुल मिलाकर किसान कृति भारतीय किसान के वास्तविक जीवन की पीड़ा को एक महत्वपूर्ण प्रश्न बनाकर सामने रखती है।

संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन में नवजागरण के जो भी प्रश्न उठते रहे, देशभक्ति का प्रश्न, सभी भाषा-भाषी, सम्प्रदाय, जाति, संस्कृतियों में एकता का प्रश्न, स्त्री शिक्षा, पुरुषों के साथ स्त्री समानता का प्रश्न आदि सभी प्रश्नों को गुप्त जी ने अपनी रचना का विषय बनाया और काफी उग्र एवं आक्रामक ढंग से सामाजिक बुराइयों को उजागर करते हुए उनमें सुधार की इच्छा व्यक्त की है। सरल, सहज, गद्यमयी एकअर्थीय भाषा में लिखने के कारण उनकी रचनाएँ लोकप्रिय भी खूब हुईं। राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों को अपनी रचना में उठाने के कारण गाँधी जी ने उन्हें राष्ट्रकवि की उपाधि भी दी।

2.2.3 नारी भावना

राष्ट्रीय नवजागरण के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों में से एक प्रश्न समाज में नारी की स्थिति पर पुनर्विचार का भी सामने आया था। समाज सुधार के लिए 19वीं शती में जो आंदोलन चलाए गए उनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज प्रमुख थे। इन आंदोलनों और राजा राममोहन राय, विवेकानंद, दयानंद आदि समाज सुधारकों ने स्त्री की सामाजिक प्रस्थिति का डटकर विरोध किया। साहित्येतिहास में मध्यकाल के बाद रीतिकाल में तो नारी की स्थिति भोग्या मात्र ही बन कर रह गई थी, जिसका तीव्र विरोध राष्ट्रीय नवजागरण के दौरान दिखाई पड़ता है।

व्यक्ति स्वतंत्रता की भावना ने नारी स्वतंत्रता की भावना को भी बल दिया। राष्ट्रीय आंदोलन में नारी भी पुरुष के समकक्ष बढ़-चढ़कर हिस्सा ले सकती है, इस भावना को बल मिला। नारी के बारे में बदले हुए इस विचार का मैथिलीशरण गुप्त पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। "साकेत", "यशोधरा", "जैयिनी" "हिडिम्बा" जैसे उनके काव्यग्रंथ उनकी नारी भावना को विस्तार से व्याख्यायित करते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त नारी जीवन के प्रति अपार सहानुभूति रखने वाले कवि हैं। लेकिन उनके सभी नारी पात्र समाज के एक विशेष वर्ग (सवर्ण) से आए हैं। उनकी लगभग नारी पात्र ऐसी हैं, जिनके पति किसी कार्य के उद्देश्य से उन्हें छोड़कर चले गए हैं। इसलिए वे सभी "उपेक्षिता" हैं। नारी चित्रण के माध्यम से, इनके दुख-दर्द और पीड़ा की अभिव्यक्ति के माध्यम से गुप्त जी समाज में नारी की स्थिति बदलना चाहते हैं।

गुप्त जी के स्मरणीय नारी पात्र "साकेत", "यशोधरा" आदि प्रबंध काव्यों में हैं। "साकेत" की रचना की प्रेरणा गुप्त जी को कवीन्द्र रवीन्द्र के निबंध "काव्यर उपेक्षिता" तथा आचार्य द्विवेदी जी के लेख "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" से मिली थी। प्रारंभ में "साकेत" का नामकरण "उर्मिला-उत्ताप" था बाद में बदल कर इसका नाम गुप्त जी ने "साकेत" किया। "साकेत" पूरा करने में कवि को सोलह वर्ष लगे। रामकथा पर आधारित "साकेत" को गुप्तजी ने यथासंभव राष्ट्रीय आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। "साकेत" का केंद्रबिंदु "उर्मिला" है जो मूल राम कथाओं में एक उपेक्षित पात्र की तरह ही चित्रित हुई हैं। गुप्त जी को "उर्मिला" की व्यथा, विरह, वेदना, त्याग और व्यक्तित्व की दृढ़ता ने प्रभावित किया है। "उर्मिला" के इन अछूते व्यक्तित्व के पक्षों को उन्होंने आधुनिक संदर्भों में उद्घाटित किया है। गांधी युग में जब गुप्त जी रचनारत थे तब समाज में व्यक्ति का महत्व उतना स्थापित नहीं हो पाया था और परिवार समाज की एक प्रमुख इकाई था। इसलिए भी नारी के व्यक्तित्व के जिन पक्षों पर उनका अधिक ध्यान गया वे थे उसका मातृत्व, पत्नीत्व और इसी संदर्भ में उसकी स्वतंत्र सत्ता और महत्ता।

साकेत में "उर्मिला" के चरित्र को गुप्त जी ने स्वाभिमानी, जागृता, शक्तिरूपा, वीरगना के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है जो सैनिकों में मातृभूमि के प्रति मर मिटने का हौसला पैदा करने की प्रेरणा शक्ति देती है। सीताहरण और शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण की मूर्छा के प्रसंग को जब हनुमान सुनाते हैं तब साकेत के सभी निवासी रावण से युद्ध करने के लिए निकल पड़ते हैं और सीता को कारागार से मुक्त करके शत्रुघ्न प्रजा को रावण की लंका लूटने का आदेश देते हैं, तब उर्मिला माथे पर सिंदूर लगा, हाथ में माला लेकर दुर्गा का वेश धारण करके गरजती हुई उनके सामने आ खड़ी होती है और तेजस्वी वाणी में घोषणा करती है :

नहीं, नहीं पापी का सोना
यहाँ न लाना, भले सिंधु में वहीं डुबोना
जाते हो तो मान हेतु तुम सब जाओ
विंध्य-हिमाचल-भाल भला। झुक जाय, धीरो,
चंद्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-फला रुक जाय न वीरों

(पृ० 129)

इसी प्रकार सीता के इन उद्गारों में नारी की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता प्रकट होती है :

औरों के यहाँ नहीं पलती हूँ
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ
श्रमवारि बिंदु फल स्वास्थ्य शक्ति फलती हूँ
अपने अंचल से व्यंजन आप झलती हूँ
तनु-लता-सफलता-स्वाद आज ही आया
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया।

उर्मिला के अतिरिक्त साकेत में सुमित्रा, मंधरा, कैकेयी, सीता, कौशल्या आदि जितने भी नारी चरित्र हैं उनके व्यक्तित्व में गुप्त जी ने युगानुकूल नई उद्भावनाएँ की हैं। मसलन रामचरितमानस की कैकेयी के लिए तुलसी ने "गई गिरा मति करि" वाक्य का प्रयोग किया है जबकि गुप्त जी ने कैकेयी के विरोध को मनोवैज्ञानिक कारणों के परिप्रेक्ष्य में ढाला है। कैकेयी के साथ उसके पुत्र पर भी संदेह किया गया, इसलिए वह प्रतिशोध करती है। मानस की मंधरा का कहना था :

"कोउ नृप होहु हमहिं का हानी
चेरि छँड अब होब कि रानी

जबकिं साकेत की मंथरा कहती है :

दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ
कहा क्या मैंने अपने अर्थ?
समझ में आया जो कुछ मर्म
उसे कहना था मेरा धर्म

गुप्त जी ने कैकेयी द्वारा पश्चाताप के बोल भी बुलवाकर मानो उसके पापों को धो डाला है :

थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके
जो कोई कह सके, कहे, क्यों चूके
युग-युग तक चलती रही कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।

"साकेत" में यदि केंद्रीय चरित्र उर्मिला और उसकी विरह-वेदना का चित्रण हुआ है तो "यशोधरा" में गुप्त जी ने गौतम बुद्ध, राहुल तथा यशोधरा की कथा को आधार बनाकर यशोधरा को जीवंत किया है। यशोधरा पर तत्कालीन नारी जागरण का प्रभाव और भी ज्यादा और मुखर रूप से दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीय आंदोलन में हजारों स्त्री पुरुष घरबार का मोह छोड़कर कूद पड़े थे। व्यक्तिगत सुख-दुख को उन्होंने भुला दिया था। इसी प्रकार सत्य की खोज में गौतम बुद्ध पत्नी-बच्चे को रात में सोते छोड़ कर अचानक एक दिन घर से निकल गये थे। ऐसी स्थिति में गुप्त जी की यशोधरा पर इसका जो असर हुआ उसे वह इस प्रकार व्यक्त करती है :

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात
सखि, वे मुझसे कह कर जाते
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते

(यशोधरा, पृ० 24)

यह बात वह नारी ही कह सकती है जो जागरूक हो, जिसे अपने स्वतंत्र अस्तित्व का एहसास हो और जो "सिद्धि" के महत्व को समझती हो। अर्थात् समाज से जिसका सीधा संबंध है, जो सोचती-समझती और जीवन में पुरुष के समकक्ष कंधे से कंधा मिलाकर सारे बोझ उठाने के लिए तैयार हो। इसके आगे भी जब गौतम के जाने के संदर्भ में बात-चीत होती है तो यशोधरा अपने परिपक्व व्यक्तित्व का परिचय देती है :

"तात, सोचो, क्या वे इसी अर्थ हैं
खोज हम लायें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं।

यशोधरा के विरहणी व्यक्तित्व में उसका मातृत्व भी जुड़ा हुआ है। इसलिए गुप्त जी ने उसके मातृत्व रूप को, पुत्र-वधु के रूप को उसके विरहणी व्यक्तित्व के साथ-साथ विकसित किया है। यशोधरा, उर्मिला, सीता आदि जितने भी गुप्त जी के नारी पात्र हैं, वे विरही हो कर भी मध्यकालीन विरहिणियों की तरह से दीन-दुनिया भूलकर ज़ार-ज़ार आँसू नहीं बहाते बल्कि विरह का दुख उन्हें द्रवित करके जगत के दुखों के प्रति संवेदनशील बनाता है और वे कर्मठ बन कर जनता के साथ तादात्म्य स्थापित करने की कोशिश करते हैं। "साकेत" में सीता का चरित्र भी इसी प्रकार विकसित हुआ है। हालाँकि गुप्त जी की सीता तुलसीदास की सीता से प्रेरित और प्रभावित है किंतु गाँधी-युग में रचित होने के कारण वे स्वदेशी आंदोलन के वातावरण में रंगी हुई है। इसलिए तुलसी की सीता जहाँ सामंती माहौल की ऐसी नारी के घेरे में मानवी का अभिनय करती है, वहाँ गुप्त जी की सीता स्वतंत्रता आंदोलन में नारी की आदर्शमूर्ति बनने लगती है। स्वतंत्रता आंदोलन में नारी की आदर्शमूर्ति वह है जहाँ वह पत्नी, प्रेमिका, माँ, बहन के रूपों के साथ-साथ श्रमशील, आर्थिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्वामिनी है। इसलिए गुप्त जी की सीता का कहना है :

औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ

श्रमवारि बिंदु फल स्वास्थ्य शुचि फलती हूँ
अपने अंचल से व्यंजन आप झलती हूँ
तनुजात-सफलता-स्वादु आज ही आया
मेरी कूटिया में राजभवन मन भाया

निश्चित रूप से गुप्तजी की नारी चेतना पारंपरिक नहीं है। नारी को वे शिक्षिता, आत्मसम्मानी, स्वाभिमानी देखना चाहते हैं, राष्ट्रीय आंदोलन में उसकी सक्रिय भूमिका के पक्षधर हैं, किंतु यह सब परिवर्तन गृहिणी के रूप में उसकी पारिवारिक भूमिका को हटा कर वह नहीं चाहते। यहाँ पर भी गुप्तजी की अतीतमूलक सुधारवादी दृष्टि सक्रिय दिखाई पड़ती है।

2.3 हिन्दी काव्य-जगत में गुप्तजी का योगदान

मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी कविताओं के माध्यम से भारतीय नवजागरण और राष्ट्रीयता की भावना के प्रचार-प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी कविता को भारतीय जनजीवन के साथ जोड़ने का भरपूर प्रयास किया, लेकिन मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती', हरिवंश राय बच्चन की 'मधुशाला' को भी अपनी लोकप्रियता में पीछे छोड़ गयी थी। इसका प्रमुख कारण है कि गुप्तजी ने भारतीय जनता को उसकी समग्रता में समझा-पहचाना था, उसका अत्यंत प्रभावशाली ढंग से नेतृत्व किया था। यह नेतृत्व क्षमता छायावादी कवियों के लिए तो दूर की बात है ही, दिनकर को छोड़कर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा और प्रगतिशील कवियों में भी नहीं मिलती। नयी कविता और उसके बाद आने वाली हिन्दी कविता के लिए इस प्रकार की क्षमता का सर्वथा अभाव मिलता है। इस दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त को आधुनिक काल का तुलसीदास कहा जा सकता है। मध्य काल के कवि तुलसीदास का लोकनायकत्व आधुनिक काल के मैथिलीशरण गुप्त में ही उपलब्ध होता है।

जनभाषा को साहित्य की भाषा बनाने का जो अभियान भारतेन्दु ने छेड़ा था, उसे पूर्णता प्रदान करने में पूर्ण सफलता मैथिलीशरण गुप्त को ही मिली है। अतीत की विरासत को लेकर नवीन के निर्माण में जिस निपुणता के साथ मैथिलीशरण गुप्त अग्रसर हुए हैं, इसे हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में विरल ही माना जाएगा। गहिर्तु सामंतवादी प्रवृत्तियों के साथ ही साम्राज्यवाद की जनविरोधी प्रकृति के समुचित उद्घाटन का सूत्रपात भी गुप्त जी द्वारा ही हुआ है। इन सभी दृष्टियों से मैथिलीशरण गुप्त का एक ऐतिहासिक महत्व है।

2.4 सारांश

राष्ट्रीय नवजागरण को व्यापक रूप से साहित्य की अन्तर्वस्तु बना कर द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त ने देश की जनता के साथ साहित्य का व्यापक संबंध स्थापित किया। सबसे पहले उन्होंने "भारत-भारती" के माध्यम से इस देश की पहचान का मूल सूत्र सामने रखा और सहअस्तित्व, सांझी विरासत के वचन को दुहराया। इसके साथ ही अपने वैष्णवी संस्कारों, वर्णाश्रम धर्म की मान्यताओं के बावजूद अपने स्वधर्म की स्वस्थ मान्यताओं को ही उन्होंने अपनी वैचारिक भूमि का आधार बनाकर साहित्य कर्म किया। हिंदू धर्म के साथ-साथ मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई अन्य सभी धर्मों, धर्मावलम्बियों, धर्म गुरुओं के प्रति एक समान आदर और सम्मान का भाव व्यक्त किया, उन पर रचनाएँ कीं।

दूसरी बड़ी उपलब्धि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य की है उनकी स्त्रियों के प्रति भावना। उन्होंने इतिहास में से उपेक्षित स्त्री पात्रों को ले कर उनके प्रति संवेदना प्रकट करते हुए उन्हें ही साहित्य में पुनर्जीवित किया। उर्मिला, यशोधरा, जेनी, हिडिम्बा आदि के जीवन चित्रण के माध्यम से उन्होंने नारी विषयक दृष्टिकोण को बदलने पर बल दिया, राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी सक्रिय भूमिका पर बल दिया।

भारत की मूल रीढ़ इस देश का किसान और उसका जीवन है। किसान जीवन की महागाथा निश्चय ही प्रेमचंद के "गोदान" में 1936 में अभिव्यक्ति पाती है किंतु उससे बीस वर्ष पूर्व ही गुप्त जी ने यथार्थ शैली में "किसान" खण्डकाव्य लिखकर अपनी सोच, समझ और जनप्रतिबद्धता जाहिर कर दी थी।

गुप्तजी की काव्य यात्रा की खूबी यह रही है कि वे समय के साथ राष्ट्रीय आंदोलन की तत्कालीन जरूरतों के मुताबिक स्वयं को और अपनी सर्जना को भी ढालते रहे।

2.5 प्रश्न

1. राष्ट्रीय नवजागरण की अभिव्यक्ति गुप्त जी के काव्य में किस रूप में हुई है? स्पष्ट कीजिए।
2. मैथिलीशरण गुप्त जी के काव्य के मूल प्रातिनिधिक स्वरों का विश्लेषण कीजिए।
3. "उर्मिला को गुप्त जी ने पुनर्जीवित किया है" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. किसान जीवन को गुप्त जी ने किस रूप में चित्रित किया है? स्पष्ट कीजिए।
5. हिन्दी काव्य-जगत के लिए गुप्त जी के योगदान को रेखांकित करें।

इकाई 3 भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा और शिल्प (खड़ी बोली के विकास के संदर्भ में)

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 भारतेंदु की काव्य-भाषा और शिल्प
- 3.3 मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा और काव्य-शिल्प
- 3.4 भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा और शिल्प की तुलना
- 3.5 सारांश
- 3.6 प्रश्न
- 3.7 इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप :

- भारतेंदु हरिश्चंद्र की काव्य-भाषा और शिल्प की विशेषताएँ जान सकेंगे,
- हिंदी खड़ी बोली किस प्रकार भारतेंदु युग में काव्य भाषा पर दबाव डाल रही थी, इसे भी आप पहचान सकेंगे,
- खड़ी बोली हिंदी किस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में काव्य-भाषा का रूपाकार ग्रहण करती है, इससे परिचित हो सकेंगे, तथा
- भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा और शिल्प की तुलना से काव्य-भाषा के रूप में हिंदी के विकास की विभिन्न स्थितियों से भी आप परिचित हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली दो इकाइयों में आपने भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अध्ययन किया है। इस इकाई में हम इन दोनों कवियों की काव्य-भाषा और शिल्प पर विचार करेंगे। भारतेंदु के काव्य का अध्ययन करते हुए आपने देखा था कि किस प्रकार नवजागरण के परिवेश में साहित्य को समाज के यथार्थ से जोड़ने का उन्होंने प्रयास किया। उनके यहाँ नयी परिस्थितियाँ, नयी चुनौतियाँ साहित्य का विषय बनकर उपस्थित हुईं। भारतेंदु ने जिस प्रकार नवजागरण साहित्य का उन्मेष किया, उसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने नवजागरण को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़कर अपनी अभिव्यक्ति और सर्जना का काव्य विषय बनाया। साहित्य और समाज के इन बदलते-बनते रिश्तों का अध्ययन कथ्य और विषयवस्तु के संदर्भ में करने के बाद यह जानना भी हमारे लिए ज़रूरी है कि काव्य विषयों के समानांतर काव्य संरचना, शैली और भाषा में कितना और कैसा परिवर्तन हुआ। इतना तो आप जानते ही हैं कि रूप और वस्तु का संबंध द्वंद्वात्मक होता है। यदि वस्तु बदलती है तो रूप पर भी उसका प्रभाव पड़ता है, और रूप बदलता है, तो विषय वस्तु पर भी अपना प्रभाव डालता है। अतः वस्तु और रूप का संबंध द्वंद्वात्मक होता है।

इन दोनों कवियों की काव्य-भाषा और शिल्प का अध्ययन प्रकारांतर से हिंदी काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के अपनाए जाने की प्रक्रिया का भी अध्ययन है। ब्रज-भाषा का स्थान खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में किस प्रकार ग्रहण करती है और कैसे धीरे-धीरे एक मानक काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत होती है इसे इन दोनों कवियों की काव्य-भाषा के अध्ययन के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है।

3.2 भारतेंदु की काव्य-भाषा और शिल्प

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जब लिखना शुरू किया था उस समय कविता की भाषा ब्रज-भाषा ही थी,

जिसकी तीन-चार सौ वर्षों की एक समृद्ध परंपरा उन्हें विरासत में प्राप्त हुई थी। सूरदास, घनानंद, बिहारी जैसे ब्रज-भाषा प्रवीण विशिष्ट कवि उनके सामने थे। हिंदी खड़ी बोली गद्य की एक क्षीण परंपरा भी मध्यकाल से ही चली आ रही थी। इसे ईसाई मिशनरियों, लेखक चतुष्टय (लल्लूलाल, सदन मिश्र, इंशा अल्ला खाँ और सदासुख लाल) तथा राजाद्वय (राजा शिव प्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह) के माध्यम से एक नयी शक्ति मिली थी। आरंभ में उर्दू भाषा हिंदी खड़ी बोली की ही अरबी-फ़ारसी मिश्रित एक शैली थी। 'रानी केतकी की कहानी' (1803) में इंशा अल्ला खाँ 'हिंदी छुट दूसरी भाषा पुट' न देने की नीति पर चले थे। हिंदी उर्दू का विवाद उठाने वाले राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मण सिंह थे, जिनमें एक ने अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू का पक्ष लिया और दूसरे ने संस्कृत तत्सम मिश्रित हिंदी का। उस समय तक हिंदी और उर्दू - हिंदू - मुस्लिम दो भिन्न संप्रदायों से जुड़कर विकसित नहीं हो रही थीं। लेकिन हिंदी-उर्दू का विवाद खड़ा कर बाद में अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के तहत इसे दो संप्रदायों के बीच खायी पैदा करने के लिए एक औज़ार के रूप में प्रयुक्त किया। इसके शिकार कट्टरपंथी हिंदू और मुसलमान दोनों बने। आज तक दोनों भाषाओं का यह सवाल सम्प्रदाय के सवालों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है। अपने रचनाकाल में भारतेन्दु ने राजा शिव प्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह के उर्दू-हिंदी भाषा-विवाद से अपने को बचाने का पूरा प्रयास किया। इन्होंने अरबी-फ़ारसी और संस्कृत के चक्कर को छोड़कर बोल-चाल की 'आम फहमी' भाषा को अपना आदर्श बनाया। यद्यपि ज़रूरत पड़ने पर इन्होंने उर्दू का प्रयोग अपनी कविता में, विशेष रूप से अपनी गज़लों में खुलकर किया है। इनकी रचना 'उर्दू बीबी का स्यापा' से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे उर्दू के विरुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे। यह रचना एक विशेष संदर्भ में लिखी गयी है। वैसे भारतेन्दु का अधिकांश काव्य ब्रज-भाषा में ही है, जिसमें इन्हें पूर्ण महारत हासिल है।

बहरहाल भारतेन्दु ने काव्य रचना की अपनी शुरुआत ब्रज-भाषा से ही की, जिसमें शीघ्र ही वे इस रूप में निष्णात हो गये कि रीतिकालीन जड़ता में पली-बढ़ी ब्रज-भाषा की कमज़ोरियाँ उनके सामने तुरंत उजागर हो गईं। इसमें उन्हें साहित्य और जीवन में बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी होने का भी निश्चय ही लाभ मिला होगा। देश के विभिन्न भागों की यात्राएँ, वहाँ की भाषाओं, साहित्य से परिचय, नवजागरण आंदोलन का प्रभाव, साहित्य की तमाम नई विधाओं (नाटक, निबंध, लेख, पत्रकारिता, सम्पादन) में सक्रिय भागेदारी, साहित्य संगठन की नयी क्रांतिकारी शुरुआतें, लोक साहित्य, लोक संगीत, लोक छंद, लोक राग की पूर्ण जानकारी, राष्ट्रीय जागरण के तमाम सवाल को अपने कर्म चिंतन का हिस्सा बनाना और जनता से सीधे सक्रिय रूप से जुड़ना आदि उनके जीवनमर्म के महत्वपूर्ण पहलू रहे हैं। इसलिए जिस प्रकार उन्होंने गद्य की प्रासंगिकता को समझ कर हिंदी गद्य को स्थापित करने में आंदोलनात्मक कार्रवाई की, उसी प्रकार हिंदी पद्य के क्षेत्र में उन्होंने ब्रज-भाषा का भी कार्याकल्प करने की कोशिश की।

भारतेन्दु की ब्रज-भाषागत विशेषता को रेखांकित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : 'भारतेन्दु ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार काव्य की ब्रज-भाषा का भी। उन्होंने देखा कि बहुत से शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गये थे, कवित्तों और सवैयाओं में बराबर लाए जाते हैं। इसके कारण कविता जनसाधारण की भाषा से दूर पड़ती जाती है। बहुत से शब्द तो प्राकृत और अपभ्रंश काल की परंपरा के स्मारक के रूप में ही बने हुए थे। चक्कव भुवाल, ठायो, दीह, ऊनो, लोय आदि के कारण बहुत से लोग ब्रज-भाषा की कविता से किनारा खींचने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते-बढ़ते बहुत बुरी हद तक पहुँच गया था, यह शब्दों के तोड़-मरोड़ और गढ़त के शब्दों का प्रयोग था। उन्होंने ऐसे शब्दों को भरसक कविता से दूर रखा और अपने रसीले सवैया में जहाँ तक हो सका, बोलचाल की भाषा का व्यवहार किया। इसी से उनके जीवनकाल में अनेक सवैया चारों और सुनाई देने लगे।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 394-395) इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को ध्यान में रखकर सभी कवि-लेखकों से अपने निबंध 'जातीय संगीत' में ग्रामगीतों और लोकछंदों को अपनाने का आह्वान भी किया : 'यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उस का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुन कर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता - इस विषय में मैं, जिनको कुछ भी रचना शक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत वा छंद बनाकर स्वतंत्र प्रकाश करें या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूँगा और सब लोग अपनी मंडली में गाने वालों को वह पुस्तक दें।.... कजली, ठुमरी, खेमटा, कँहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँसी, लँबे, लावनी, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गज़ल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो, अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुंदेलखंड में बुंदेली, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।' (भारतेन्दु समग्र पृष्ठ 102)

काव्य विषयों के जीवन संदर्भ चूँकि मध्यकालीन रीतिकालीन नहीं रहे थे, इसलिए जीवन की आम, व्यापक समस्याओं को समाज और राजनीति की समस्याओं को और सत्ता की चालबाजियों को जब भारतेंदु काव्य का विषय बनाते हैं तो समसामयिक जीवन की शब्दावली उनकी काव्य-भाषा में स्वभावतः प्रवेश करती है। इस प्रकार वह पारंपरिक काव्य-भाषा जो शृंगार, सौंदर्य और लक्षण ग्रंथों के आधार पर अपना एक साँचा खड़ा किए हुए थी, जिस पर कोई किसी प्रकार का दबाव नहीं था, उसी काव्य-भाषा को अब प्राचीन, स्थिर विषयों के अलावा जीवन के नये संदर्भों, प्रसंगों, विचारों का बोझ उठाना पड़ा, जो उस काव्य-भाषा के लिए अपरिचित था, ऐसे में ब्रज की कोमल कांत पदावली बनी रहना संभव नहीं रहा। इसके साथ ही ब्रज-भाषा की असमर्थता भी उजागर हो गयी।

इस प्रकार ब्रज-भाषा को काव्य-भाषा के रूप में भारतेंदु ने नये-नये विषयों का, विचारों का, जन इच्छाओं का वाहक बनाते हुए उसमें से अप्रचलित, कठिन शब्दों को, तिलांजलि दी और उसे सरल सुगम बनाने का प्रयास किया। किंतु भाषा की रागात्मक स्वच्छंदता, व्यावहारिकता में उसकी प्रभाव क्षमता, मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रासंगिकता को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया।

हालांकि पद्य भाषा के रूप में ब्रज भारतेंदु को बहुत सहज, सरल एवं प्रिय लगती रही तथापि - ब्रज के अलावा उर्दू में भी उन्होंने अपनी लेखनी चलाई। 'फूलों का गुच्छ' कविता में से एक उदाहरण देखिए:

‘नहीं का बाकी वक्त नहीं है जरा न जी में शरमाओ।
लब पर जों है, भला अब तो प्यारे मिलते जाओ।
कहाँ गई वह पिछली बातें कहाँ गया वह था जो प्यार।
किधर छिपाया चाँद-सा मुखड़ा दिखलाता जो यार।
बेहोशी में घबड़ा घबड़ा करके यही कहता हूँ पुकार।
मर्ज बढ़ गया बहुत इससे बचना अब है दुश्वार। (पृ० 170, भारतेंदु समग्र)

उर्दू में गज़लें लिखने का भी भारतेंदु ने प्रयास किया:

फिर आई फस्ले (ऋतु) गुल (फूल) फिर जख्म दह (घाव) रह रहके पकते हैं
मेरे दागे जिगर पर सूरते लाला (एक फूल) लहकते हैं
नसीहत है अबस (व्यर्थ) नासेह (उपदेशक) बयों नाहक ही बकते हैं
जो बहके दुख्तेरज (मदिरा) से है वह कब इन से बहकते हैं? (पृ० 269, वही)

उर्दू एवं अन्य भाषाओं के प्रति ऐसे दृष्टिकोण का असर ब्रज-भाषा पर इस रूप में हुआ कि ब्रज के कवि अब अन्य प्रांतीय जनभाषाओं से शब्द ग्रहण करने में भी उदार होते गये फलतः ब्रज-भाषा काव्य-भाषा के रूप में जनता के अधिक करीब होती गई। पद्य के लिए ब्रज-भाषा हो और गद्य के लिए खड़ी बोली हो - यह समस्या धीरे-धीरे भारतेंदु के समय ही सिर उठाने लगी थी। खड़ी बोली में काव्य लिखने की एक क्षीण परम्परा होने का जिक्र हम पहले कर ही चुके हैं। भारतेंदु ने भी इस खड़ी बोली में काव्य लिखने का प्रयास किया, जिसमें शुरु में, उन्हें बड़ा अटपटापन महसूस हुआ, ब्रज की सी 'मिठास' उन्हें खड़ी बोली की दीर्घ क्रियाओं में फीकी जान पड़ी, जिसका जिक्र 2 अक्टूबर 1872 को 'कविवचन सुधा' में 'हिंदी भाषा' नामक निबंध में उन्होंने यँ किया। 'जो हो मैंने आप कई बेरे परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चिंतानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चित होता है कि ब्रज-भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी के कविता ब्रज-भाषा में ही उत्तम होती है।' ... (पृष्ठ 1049 भारतेंदु समग्र) इसके बाद नई भाषा की कविता की अपनी ये पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए लिखा :

भजन करो श्री कृष्ण का, मिल करके सब लोग
सिद्ध होगा काम और छूटेगा सब सोग।"

अब देखिए यह कैसी भीड़ी कविता है मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली में कविता मीठी नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा कारण यह जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है इससे कविता अच्छी नहीं बनती।" (पृ० 1050, भारतेंदु समग्र)

इस घटना के नौ वर्ष बाद भारतेंदु ने 1 सितंबर 1881 को 'भारत मित्र' के सम्पादक को पत्र लिखा और अपनी खड़ी बोली में लिखी कुछ कविताएँ प्रकाशनार्थ भेजीं : 'प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता

भेजी है। देखिएगा कि इस में क्या कसर है। और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुंदर बन सकता है। इस विषय में सर्वसाधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जाएगा। तीन भिन्न-भिन्न छंदों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छंद में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे संतुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रज-भाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ भाग विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। मैंने कहीं-कहीं सौकर्य के हेतु दीर्घ मात्राओं को भी लघु करके पढ़ने की चाल रखी है। लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूंगा।" (भारतेंदु समग्र पृ० 1074 -1075)

निश्चय ही भारतेंदु ने खड़ी बोली में कविता लिखने के इस यत्न को और आगे बढ़ाया और अपने नाटकों में जहाँ-तहाँ कहीं ब्रज और खड़ी बोली दोनों को साथ मिलाकर, कहीं सिर्फ खड़ी बोली में, कहीं खड़ी बोली की उर्दू शैली में कविताएँ लिखी हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं :

यह है सुहाग का अचल हमारे बाना।
असुगन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना॥
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना।
कर चूरी मुख में रंग तमोल जमाना॥
पीना प्याला भर रखना वही खुमारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी॥
है पंथ हमारा नैनों के मत जाना।
कुल लोक वेद सब औ परलोक मितना॥
शिवजी से जोगी को भी जोग सिखाना।
हरिचंद एक प्यारे से नेह बढ़ाना॥

(पृ० 457 भारतेंदु समग्र में श्री चंद्रावली नाटिका से)

'अंधेर नगरी' नाटक में व्यंग्योक्ति के माध्यम से :

चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन खावें एडिटर जात। जिनके पेट पचे नहीं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता॥
चूरन पुलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥

(पृ० 531 भारतेंदु समग्र)

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों को ध्यान से देखा जाए तो एक विशिष्ट वास्तविकता हमारे सामने उद्घाटित होगी। पहले उदाहरण में अभिव्यक्ति पक्ष अत्यंत शिथिल है, लेकिन दूसरे उदाहरण में गृहीत तथ्य अत्यंत सहजता और तीखेपन से उद्घाटित हुआ है। इससे हमारे सामने कुछ विशेष निष्कर्ष आते हैं। भारतेंदु जब भक्ति या श्रृंगार जैसे परंपरागत विषयों पर खड़ी बोली हिंदी में काव्य रचना करते हैं तो उनकी भाषा लड़खड़ा जाती है लेकिन नये विषयों पर लिखते समय अभिव्यक्ति में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं दिखायी देती। यदि इन्होंने चितन से सम्बद्ध नये विचार प्रधान विषयों पर खड़ी बोली हिंदी में रचना की होती तो शायद उनके सामने विशेष दिक्कत नहीं आती। यह एक ऐसी वास्तविकता है, जिसे भारतेंदु संभवतः पहले समझ नहीं पाए थे।

भारतेंदु की खड़ी बोली की कविताएँ जितनी भी हैं उनमें वह ब्रज की केंचुल छोड़कर अपना नया रूप धारण करने का प्रयास करती दिखाई पड़ती हैं। विशेषकर उनके नाटकों में जहाँ कहीं खड़ी बोली की कविताएँ वे लिखते हैं वे सायास नहीं बल्कि ज़रूरत के अनुसार लिखी गई दिखाई पड़ती हैं। वैसे भी गद्य की भाषा खड़ी बोली हो और पद्य की ब्रज-भाषा - यह बात भारतेंदु को भी निश्चय ही खलने लगी होगी। यह तो उन्हें पता था ही कि खड़ी बोली में कविता लिखने की वह ही शुरुआत नहीं कर रहे हैं बल्कि खड़ी बोली की उर्दू शैली और दखनी शैली में कविताएँ उनसे पहले से लिखी जाती रही हैं। खड़ी बोली में प्राचीन कीर्तनों के मिलने की बात स्वयं भारतेंदु ने 'हिंदी भाषा' शीर्षक निबंध में कही है। इस कीर्तन परंपरा में स्वयं उनके पिता बाबू गिरधर दास की रचनाएँ भी मिलती हैं। भारतेंदु की खड़ी बोली की कविताओं का विस्तृत विश्लेषण विष्णुकांत शास्त्री ने 'भारतेंदु की खड़ी बोली की कविताएँ' निबंध में किया है। जिससे यह बात तो सिद्ध हो ही जाती है कि भारतेंदु स्वयं इस बात को समझने लगे थे कि अब पद्य की भाषा ब्रज अधिक दिन तक बने नहीं रह सकती। इसलिए 'साधुभाषा' (खड़ी बोली) में कविता रचने की जो शुरुआत उन्होंने 1872 ई० में की, उसे

भारतेंदु हरिश्चंद्र और मैथिलीशरण
गुप्त की काव्य भाषा और शिल्प

काव्यरूप की दृष्टि से भारतेंदु ने मुक्तक काव्य रचना की जिनमें लोकछंदों, लोकरागों, (तुमरी, दादरा, मलार, इमन आदि) लोकसंगीत शैली (लावनी) दोहों, व्यंग्योक्तियों (उर्दू का स्थापा, बंदरसभा) समस्या पूर्ति, मुकरियों, आदि के द्वारा नये-नये प्रयोग भी किए।

भारतेंदु हरिश्चंद्र की मृत्यु के उपरांत कुछ समय बाद ही यह भावना ज़ोर पकड़ने लगी कि गद्य और पद्य की दो भाषाएँ नहीं होनी चाहिएँ। खड़ी बोली की जो अभी तक क्षीण परंपरा थी, उसकी ओर भी लोगों का ध्यान जाने लगा। कबीर, नामदेव, अमीर खुसरो के बाद इशा ने अपनी कहानी 'रानी केतकी की कहानी' में भी खड़ी बोली के पद्य उर्दू छंदों में रचे थे। नज़ीर अकबराबादी (1700-1820 ई०) ने भी कृष्ण-मीरा संबंधी पद्य खड़ी बोली में रचे थे। इस प्रकार भारतेंदु की मृत्यु के बाद भाषा का यह मसला जब ज़ोर पकड़ने लगा तब खड़ी बोली को पद्य के लिए अपनाने के लिए एक आंदोलन ही उठ खड़ा हुआ। तब तक खड़ी बोली की तीन छंद प्रणालियाँ लोगों के सामने थीं - हिंदी के कवित्त सवैया की प्रणाली, उर्दू छंदों की प्रणाली और लावनी का ढंग। मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री खड़ी बोली का झंडा लेकर उठे। संवत् 1845 ई० में उन्होंने 'खड़ी बोली आंदोलन' की एक पुस्तक भी छपवाई जिसमें उन्होंने ज़ोर-शोर से यह राय व्यक्त की अब तक जो कविता हुई, वह तो ब्रज-भाषा की थी, हिंदी की नहीं। हिंदी में भी कविता हो सकती है। वे भाषातत्त्व के जानकार न थे। उनकी समझ में खड़ी बोली ही हिंदी थी।' (पृ० 324 हि.सा.इ.)

इसी पृष्ठभूमि में मैथिलीशरण गुप्त ब्रज-भाषा के संस्कारों के साथ साहित्य क्षेत्र में आए और शुरु की रचनाएँ ब्रज-भाषा में ही कीं। लेकिन शीघ्र ही महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में आने पर वे खड़ी बोली में काव्य रचना करने लगे। दरअसल महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन करना खड़ी बोली काव्य-भाषा की स्थापना की दिशा में एक निर्णायक एवं निर्देशित कदम था। उन्होंने

शीघ्र ही अपने प्रभाव से नये कवियों का एक ऐसा संगठन तैयार कर लिया जो उनके निर्देशानुसार खड़ी बोली में काव्य-रचना करने को उत्सुक भी था, और कविता में सुधार लाने को भी। द्विवेदी जी ने स्वयं ब्रजभाषा से काव्य-रचना की शुरुआत की थी किंतु शीघ्र ही वे स्वयं खड़ी बोली में लिखने लगे थे। काव्य-भाषा के परिष्कार, काव्य-शैली के निर्धारण के बारे में उनके अपने मत थे। - आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'सरस्वती के संपादन काल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नये लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे सरस्वती में दे दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे-धीरे बहुत से कवियों की भाषा साफ हो गई। उन्हीं नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया।' (पृ० 331 हि.सा.इ.)

मैथिलीशरण गुप्त ने 1903 से 'सरस्वती' में अपनी कविताएँ भेजनी शुरू की थीं और इस पत्रिका में 1920 तक उनकी कविताएँ प्रकाशित होती रहीं।

दरअसल काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के स्थापन का यह प्रारंभिक दौर था जिसमें खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में अपने पाँवों पर खड़ा होना सीख रही थी। इसी दौर की रचना है मैथिलीबाबू की 'भारत भारती'। इसकी निम्नलिखित पंक्तियों का जायज़ा लें :

उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है
चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है।
अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति कथा?
उत्थान ही जिसका नहीं, उसका पतन ही क्या भला?

(पृ० 8 भारत भारती)

इन पंक्तियों को पढ़ते समय क्या आपको ऐसा नहीं लग रहा कि यह तो निरी गद्य की पंक्तियाँ हैं। इनमें कविता कहाँ है? गद्य भाषा की तरह व्याकरण सम्मत पूरे-पूरे वाक्य, न अलंकार, न बिंब योजना, न व्यंजना, न लक्षणा एक स्तरीय अर्थ -- ये सब बातें आज के काव्य, काव्य-भाषा की तुलना में चाहे आपको अटपटी लगें लेकिन उस दौर में खड़ी बोली काव्य-भाषा का और मैथिलीबाबू की काव्य-भाषा का भी यह प्रारंभिक चरण था, जब वे द्विवेदी जी के प्रभाव में 'बोल चाल की' और 'गद्य की भाषा' का काव्यानुसरण कर रहे थे। डॉ० नामवर इस पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक हिंदी कविता के आरंभिक काल में मैथिलीशरण गुप्त सहित अधिकांश कवि लिखित गद्य को ही बोलचाल की भाषा समझते थे। कविता के अंदर गद्य के समान पूरे वाक्य रखने का प्रयास इसी समझ का परिणाम है।' (मैथिलीशरण गुप्त एक मूल्यांकन, पृष्ठ 92) दूसरी ओर आचार्य शुक्ल इसे मैथिलीशरण के काव्य विकास का प्रथम चरण मानते हुए कहते हैं 'सरस्वती में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ तथा 'भारत भारती' इस अवस्था की रचना के उदाहरण हैं। ये रचनाएँ काव्य प्रेमियों को कुछ गद्यवत, रूढ़ी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं। इसमें सरस और कोमल पदावली की कमी भी खटकती थी। बात यह है कि यह खड़ी बोली के परिमार्जन का काल था।' (पृ० 334 हि.सा.इ.)

आचार्य शुक्ल ने मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-भाषा के विकास के अन्य दो चरण भी रेखांकित किए हैं : 'इसके अनंतर गुप्त जी ने बंगभाषा की कविताओं का अनुशीलन तथा मधुसूदन दत्त रचित ब्रजांगना, मेघनादवध आदि का अनुवाद उबड़-खाबड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दों की टोकरे कहीं-कहीं, विशेषतः छोटे-छोटे छंदों के चरणांत में, अब भी लगती हैं। 'भारत भारती' और 'वैतालिक' के बीच की रचनाएँ इस दूसरी अवस्था के उदाहरण में ली जा सकती हैं।' (पृ० 334 हि.सा.इ.)

दूसरे चरण की गुप्तजी की काव्य-भाषा की बानगी देखें :

मोर नाचते थे उमंग से, मेघ मृदंग बजाते थे,
कोयल के सहयोगी होकर चंचल चातक गाते थे,
रस बरसाती हुई घटा भी, नीचे उतरी आती थी,
प्रकृति निज पट पल-पल में प्रकट पलटती जाती थी। (किसान)

निश्चय ही यहाँ भी इतिवृत्तात्मकता है, पूरे वाक्य व्याकरणसम्मत हैं, गद्य का विधान भी वैसा ही है किंतु प्रकृति का रूप कुछ-कुछ स्वच्छंदता का एहसास लिए हुए भी है।

गुप्तजी के काव्य विकास का तीसरा चरण वह है, जब छायावादी काव्य अपने उत्कर्ष पर है। गुप्तजी भी प्रगीत और मुक्तक रचना की ओर प्रवृत्त होते हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा'

इस दौर की प्रतिनिधि रचनाएँ कहीं जा सकती हैं, जिनमें उनकी काव्य-भाषा में पहले की अपेक्षा काफी निखार आया है।

गुप्तजी की काव्य-भाषा पर दो प्रकार के स्पष्ट विभिन्न विचार विद्वानों ने प्रकट किए हैं। एक ओर तो वे आलोचक विद्वान हैं जो यह मानते हैं कि उस युग में वक्त की सबसे बड़ी ज़रूरत आराम से बैठकर काव्यकला के नियमों को गढ़ना या कला को तलाश, माँज कर चमकाने की नहीं थी बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन और नवजागरण को दिशा देने की थी, जनता को जागृत करके देशहित की ओर प्रेरित करने की थी और ऐसी परिस्थितियों में मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा एक जनभाषा के रूप में दिखाई पड़ती है। उसकी सरलता, सहजता सहज ही पाठकों को संप्रेषणीय हो सकने में सहायक का काम करती है। इसलिए ऐसे आलोचक उन्हें ऐसी इतिवृत्तात्मक काव्य-भाषा के कारण 'जन साधारण' का कवि' (नंद दुलारे वाजपेयी : हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी) या 'जन संबद्ध कला के अप्रतिम उदाहरण' (रेवती रमण : मैथिलीशरण गुप्त) के रूप में देखते हैं।

किंतु दूसरी ओर वे विद्वान हैं जिनका मानना है कि श्रीधर पाठक ने 'एकांतयोगी' के द्वारा खड़ी बोली में जिस काव्य रचना की शुरुआत की थी और जिसमें काव्य-भाषा लोकछंदों के आधार पर बोलचाल की लय को साथ लेकर जनभाषा बनने की संभावनाओं को इंगित करती है, उसका विकास आगे नहीं हो पाया और गुप्तजी ने इस परंपरा को नहीं अपनाया बल्कि 'काव्य रचना की दिशा में श्रीधर पाठक की जीवंत परंपरा को प्राकृत दिशा में आगे बढ़ाने के स्थान पर ऐसी दिशा में मोड़ दिया जहाँ खड़ी बोली अपनी लोच खोकर गद्य पथ पर बढ़ चली' (डॉ० नामवर सिंह : मैथिलीशरण गुप्त : एक मूल्यांकन 'सं०' पृ० 96)

'बोलचाल की भाषा' और 'गद्य की भाषा' वस्तुतः एक नहीं होती। गद्य की भाषा बातचीत की भाषा का व्यवस्थित रूप होता है, जिसकी इकाई वाक्य होती है और जो व्याकरण सम्मत होती है। दूसरी ओर बोलचाल की भाषा निर्द्वन्द्व भाव से फक्कड़ मस्त हवा के झोंकों की तरह, तरह-तरह के रंगों से रंगी हुई, मुहावरों, लोकोक्तियों, लोकछंदों, लोकजीवन का संस्पर्श लिए हुए होती है। इस रूप में यदि देखें तो गुप्तजी की भाषा बोलचाल की नहीं बल्कि गद्य की भाषा ही प्रतीत होती है। गुप्तजी की काव्य-भाषा की कमज़ोरियों की ओर इशारा करते हुए डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं : 'पर काव्य में इस भाषा की एक सीमा है। वह सीमा नीरसता नहीं है जैसा कि आमतौर से कहा जाता है। भाषा रागात्मक न सही, तथ्यात्मक तो है। तथ्यात्मक होना दोष नहीं। दोष यह है कि वह इकहरी है। इतनी संश्लिष्ट नहीं कि किसी वस्तु, दृश्य, घटना या जीवनानुभव को उसकी समग्र संकुलता में व्यक्त कर सके, इंद्रिय बोध से लेकर भावबोध और विचार-बोध के स्तरों तक जीवन व्यापार का अनुभव करा सके और उसका बिम्ब भी प्रस्तुत कर सके। गुप्तजी की इकहरी भाषा में यह क्षमता न थी। भाषा का यह इकहरेपन वस्तुतः उनके भावबोध और चिंतन के इकहरेपन का सूचक है।' (मैथिलीशरण गुप्त, एक मूल्यांकन, पृ० 97)

जो भी हो, यह बात तो तय है कि गुप्तजी का काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। किसी भी काव्य-भाषा के स्थापन की कसौटी उसका पाठकों द्वारा स्वीकार किया जाना भी होता है। इस दृष्टि से गुप्तजी काफी भाग्यशाली रहे हैं क्योंकि 'भारत भारती' उन दिनों नवयुवकों, युवतियों में देशप्रेम, राष्ट्रीय प्रेम की भावना को पुष्ट करने में काफी प्रभावी और प्रचलित रही है। हालांकि आगे चलकर गुप्त जी की काव्य-भाषा में छायावादी प्रभाव के कारण व्यंजना बढ़ी किंतु उनकी काव्य-भाषा का मूल, प्रभावी स्वर उनके अंतिम रचनाकाल तक वैसा ही बना रहा। इसके लिए यदि कोई मुख्य कारण है, तो उनके चिंतन का इकहरेपन ही।

जहाँ तक काव्य रूप और छंद विधान का प्रश्न है, तो गुप्तजी की रुचि विशेषतः प्रबंधात्मक खंड-काव्य रूपों की ओर ही अधिक रही है। उनके खंड-काव्य 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'शकुंतला', 'पंचवटी', 'शक्ति', 'सैरन्ध्री', 'वन वैभव', 'विकट भट', 'नहुष', 'अर्जन और विसर्जन', 'काबा और कर्बला', 'अजित', 'हिडिम्बा' आदि पौराणिक इतिहास से लिए गए कथानकों पर आधारित हैं। 'साकेत', 'प्रियप्रवास' के बाद खड़ी बोली का दूसरा महाकाव्य माना जाता है। प्रबंधात्मकता के कारण आयी वर्णनात्मकता का इनकी भाषा के इकहरेपन में अत्यधिक योगदान है।

हालांकि गुप्तजी ने गीतिकाव्यों की भी रचना की है किंतु उनका मन प्रबंधकाव्य जैसे काव्यरूपों में ही रमता दिखाई पड़ता है। काव्यवस्तु के चयन में भी उन्हें पौराणिक इतिहास में विचरण करना भला

लगता है। काव्यरूप की दृष्टि से उनकी रचना 'साकेत' महाकाव्य कहलाने की एक अदम्य इच्छा का प्रतिफलन लेकर साहित्य संसार में आई, लेकिन महाकाव्य की गरिमा से 'साकेत' वंचित ही रही।

'साकेत' चूँकि रामकथा का आधार लेकर लिखी गई है, इसलिए आलोचकों ने इसे वाल्मीकि, भवभूति, तुलसीदास आदि की रामकाव्य परम्परा में रखकर विश्लेषित करने की कोशिश करते हुए रामचरितमानस से इसकी तुलना भी की है। दूसरी बात है कि यदि इसे महाकाव्य कहा गया तो पारंपरिक महाकाव्य की निर्धारित विशेषताओं, लक्षणों के आधार पर ही इसे परखा जाँचा गया। ऐसा लगता है कि हिंदी के लेखक की सामूहिक मानसिकता में राम जीवन के ऐसे प्रतीक के रूप में विद्यमान हैं जो उसे जब तब चुनौती देते रहते हैं और वह इस मिथकीय पात्र से अपनी जातीय पहचान को जोड़ते रहने का प्रयत्न करता रहता है। आपको याद ही होगा कि आगे चलकर निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' जैसी महाकाव्यात्मक कविता लिखी और अभी हाल ही में भगवान सिंह का 'अपने-अपने राम' उपन्यास भी चर्चा के केंद्र में रहा। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने राम के विषय में लिखा है :

'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
जो भी कवि बन जाए सहज संभाव्य है।

'महाकाव्य' की पारंपरिक परिभाषा के अनुसार मोटे तौर पर महाकाव्य जीवन का विराट चित्र प्रस्तुत करने का भगीरथ प्रयत्न करता है। इसमें कोई एक नायक केंद्र में होता है, उसके जीवन के विकास में सहायक अन्य सहायक पात्र होते हैं, कई उपकथाएँ होती हैं, प्रकृति वर्णन होता है, सुख-दुःख स्थितियाँ होती हैं, प्रारंभ में मंगलाचारण, सरस्वती वंदना, सम्पूर्ण काव्य का विभिन्न निर्धारित सर्गों में बंटे होना, प्रत्येक सर्ग का भिन्न छंद में वर्णन किए जाने जैसी तमाम रूढ़ियाँ होती हैं। इस दृष्टि से भी 'साकेत' के महाकाव्यत्व पर आलोचक विद्वानों ने विचार किया है। किंतु सबसे अधिक ध्यान आकर्षित किया है 'साकेत' में नायकत्व की समस्या ने। आमतौर पर महाकाव्य का नायक कोई ऐसा चरित्र होता है, जिसके इर्द-गिर्द और जिसके लिए कथा का समस्त ढांचा खड़ा किया जाता है। पारंपरिक महाकाव्यों में नायक का धीरोदात्त या कुलीन क्षत्रिय होना एक स्वीकार्य रूढ़ि है। नायक को महान गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। ऐसा नायक एक सफल महाकाव्य में निश्चय ही अपनी जातीय भावनाओं और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता है।

'साकेत' में नायकत्व की समस्या इसके रामकथा पर आधारित होने के कारण भी पैदा हुई है। चूँकि गुप्तजी ने इसमें लक्ष्मण और उर्मिला की कथा का विस्तार रामकथा की पृष्ठभूमि में किया है, इसलिए ये तीनों पात्र नायकत्व की उपाधि के अधिकारी बनते दिखाई पड़ते हैं। लेकिन इसका समाधान गुप्तजी के कथनों से और गाँधीजी द्वारा उन्हें लिखे पत्रों से ही हो जाता है कि महाकाव्य में नायकत्व की अधिकारिणी 'उर्मिला' है। क्योंकि इसकी रचना ही 'उर्मिला' को प्रकाश में लाने के लिए हुई है। 'साकेत' में भी सारी घटनाएँ उर्मिला के विरह की भूमिका बनती दिखाई पड़ती हैं। बारह में से दो पूरे सर्ग उर्मिला के विरह को समर्पित हैं। गुप्तजी का मानना है कि रामकथा में उर्मिला की उपेक्षा हुई है। उसी उपेक्षा की भरपाई करने के लिए उन्होंने उर्मिला को सजीव करने का प्रयत्न किया है।

संस्कृत महाकाव्यों के शास्त्रीय लक्षणों के आधार पर यदि देखें तो गुप्तजी ने इनका निर्वाह करने की कोशिश की है। आरंभ में मंगलाचरण और सरस्वती वंदना है। सर्ग भी सात से अधिक हैं (महाकाव्यों में सात से अधिक सर्ग होने का विधान है)। प्रत्येक सर्ग में छंद भी नया इस्तेमाल किया है (केवल नवे सर्ग के अलावा) 'षड्भुज' वर्णन, पुरुषार्थ-चतुष्टय वर्णन, गिरि प्रांत, सरिता वर्णन के अलावा वस्तु संगठन, चरित्र-चित्रण, भाववर्णन, युग-धर्म-वर्णन तथा रस की भी प्रतिष्ठा संस्कृत महाकाव्यों के अनुकरण पर की गई है।

फिर भी खड़ी बोली में महाकाव्य के रूप में 'प्रियप्रवास' के बाद यह दूसरा ऐसा प्रयास था जो रामकथा पर आधारित होते हुए भी अपने समकालीन स्वरों के कारण काफी महत्वपूर्ण बन गया। खड़ी बोली जब काव्य का माध्यम बनी, तभी छंद का प्रश्न भी सामने आया। चूँकि महावीर प्रसाद द्विवेदी, खड़ी बोली के नये कवियों का मार्ग दर्शन कर रहे थे तो उनके छंद के चुनाव का असर बाकी कवियों पर भी हुआ। द्विवेदी जी को संस्कृत के गणवृत्त पसंद थे। उनकी देखादेखी मैथिलीशरण गुप्त ने भी संस्कृत के गणवृत्त छंदों को अपनाने का प्रयास किया। अपने एक लेख में डॉ० नामवर सिंह ने विस्तार से छंदों की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है और यह भी बताया है कि क्यों हिंदी में संस्कृत गणवृत्त के छंद उपयुक्त नहीं। बहरहाल, गुप्तजी शीघ्र ही संस्कृत के गणवृत्तों से निकलकर हिंदी के छंद हरिगीतिका की ओर मुड़ गए।

3.4 भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा और शिल्प की तुलना

किसी रचनाकार की भाषा और उसकी चेतना की प्रकृति का गहरा संबंध होता है। इसी तरह रचना के वस्तुतत्त्व (कांटेण्ट) और उसके रूपतत्त्व (फार्म) में भी गहरा संबंध होता है। एक तरफ भाषा और चेतना का द्वंद्व तो दूसरी तरफ वस्तु तत्त्व और रूप तत्त्व द्वंद्व - यह दुहरा द्वंद्व कवि कलाकार को झेलना पड़ता है। इन दोनों प्रकार के द्वंद्वों को जिस गंभीरता के साथ भारतेंदु ने झेला है, उस तरह से शायद मैथिलीशरण गुप्त ने नहीं। भारतेंदु को भाषा से लेकर काव्य रूप तक स्वयं मार्ग ढूँढना पड़ा है, जबकि मैथिलीशरण गुप्त या जो महावीर प्रसाद द्विवेदी या किसी अन्य व्यक्ति के निर्देश पर या फिर लोक निर्देश से प्रभावित होकर अपनी काव्य-यात्रा के मार्ग पर आगे बढ़े हैं। फलस्वरूप दोनों की काव्य-भाषा का अंतर केवल पुरानी भाषा या नई भाषा का अंतर न होकर दोनों के अपने व्यक्तित्व का अंतर भी है जो इन दोनों की काव्य-भाषा के अंतर को रेखांकित करता है।

ब्रज-भाषा का सहारा लेते हुए जब अपनी भावाभिव्यक्ति में भारतेंदु परंपरागत पदों और गीतों की रचना से संतुष्ट नहीं होते तो वे कजली, विरहा, लावनी, चैता, खेमटा, ठुमरी, होरी, मुकरी, विदेशियाँ आदि लोक गीतों का सहारा ले लेते हैं। इसी प्रकार भाषा में ब्रज, खड़ी बोली हिंदी से संतुष्ट नहीं होते तो अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, बंगाली, पंजाबी, गुजराती आदि का सहारा लेने लगते हैं। जबकि हिंदी खड़ी बोली की अपनी बनी बनाई भाषा परिपाटी की लीक पर सीधे चलने वाले मैथिलीशरण गुप्त एकसरस भाषा और कुछ गिने चुने छंदों के सहारे अपना काम निकालते हैं। द्विवेदी युगीन वर्णनात्मकता और अपनी सपाट तथा इकहरी चेतना के कारण इनकी रुचि प्रबंध रचना की ओर ही अधिक रही है। जबकि प्रबंधात्मकता को भारतेंदु ने प्रायः तिलांजलि दे रखी थी। इसके लिए उन्होंने नाटकों की रचना की, अन्य गद्य विधाओं का सूत्रपात किया। यह आवश्यकता गुप्तजी को कभी महसूस नहीं हुई। वेद पुराण और धर्म की शास्त्रीय मान्यताओं पर आक्षेप न करने के कारण गुप्त जी में तर्क-वितर्क का नितांत अभाव मिलता है, जिसका सीधा असर उनकी काव्य-भाषा पर पड़ा है। जबकि भारतेंदु ने प्राचीन भारतीय मान्यताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है। उस पर टीका-टिप्पणी की है। यह आलोचनात्मक रूख इनकी भाषा में भी लक्षित किया जा सकता है।

3.5 सारांश

इस प्रकार खड़ी बोली काव्य की जिस परंपरा का सूत्रपात आधुनिक युग में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने किया, द्विवेदी युग में आकर एक समर्थ काव्य-भाषा बनने की उसकी यात्रा शुरू हो गई। सम्पूर्ण द्विवेदी युग में अन्य कवियों के बावजूद गुप्तजी अकेले एक ऐसे कवि के रूप में सामने आते हैं जिन्होंने खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य किया। उनकी 'भारत भारती' या अन्य ऐसी ही रचनाएँ कलात्मक स्तर पर चाहे ऊँची न रही हों किंतु पाठकों के बीच उनका स्थान बना और ब्रज-भाषा जो भारतेंदु युग के बाद हाशिए पर थी, एकमुश्त रूप से काव्य की दुनिया से निकल गई।

काव्य-भाषा के निर्माण में भारतेंदु को जो श्रम और मौलिक प्रयास करना पड़ा, उससे गुप्त जी का पाला नहीं पड़ा। इसलिए दोनों की काव्य-भाषा की प्रकृति में हमें काफी अंतर मिलेगा। यह अंतर ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली या हिंदी बनाम उर्दू के मध्य सीमित न होकर काव्य-भाषा की प्रकृति पर आधारित है। ब्रज-भाषा के पारंपरिक स्वरूप को जिस प्रकार भारतेंदु ने बदला, हिंदी खड़ी बोली का जिस तरह उपयोग किया, उसके पीछे बहुत सारी चुनौतियाँ रही हैं। इन चुनौतियों का सामना गुप्त जी को नहीं करना पड़ा। इसलिए गुप्त जी जिस तरह अपनी चेतना के लिए निर्द्वंद्व हैं, उसी तरह भाषा के संबंध में भी। काव्य-भाषा और अभिव्यक्ति दोनों के लिए भारतेंदु को कठिन संघर्ष करना पड़ा था।

3.6 प्रश्न

1. काव्य-भाषा के संबंध में भारतेंदु के महत्व को स्पष्ट करें।
2. ब्रज-भाषा और खड़ी बोली हिंदी को लेकर भारतेंदु के मन में किस प्रकार का द्वंद्व था - स्पष्ट करें।
3. काव्य शिल्प की दृष्टि से भारतेंदु के महत्व पर प्रकाश डालें।

4. मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-भाषा की विशेषताओं को स्पष्ट करें।
5. काव्य शिल्प की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित करें।
6. काव्य-भाषा और शिल्प - दोनों दृष्टियों से भारतेन्दु और गुप्तजी की उपलब्धियों की तुलनात्मक समीक्षा करें।

3.7 इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. भारतेन्दु और हिंदी नवजागरण, डॉ० रामविलास शर्मा
2. भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, डॉ० शिवकुमार मिश्र
3. मैथिलीशरण गुप्त, रेवती रमण
4. मैथिलीशरण गुप्त : एक मूल्यांकन (सम्पादित), राजीव सक्सेना
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा
6. 'आलोचना' का 79वाँ तथा 86वाँ अंक
7. शमशेर बहादुर सिंह की कुछ अन्य रचनाएँ, मलयज (सम्पादक)